स्वामी वीरेश्वर विरचित

योगरत्नाकर

[ब्रह्म निर्वाण तन्त्र]

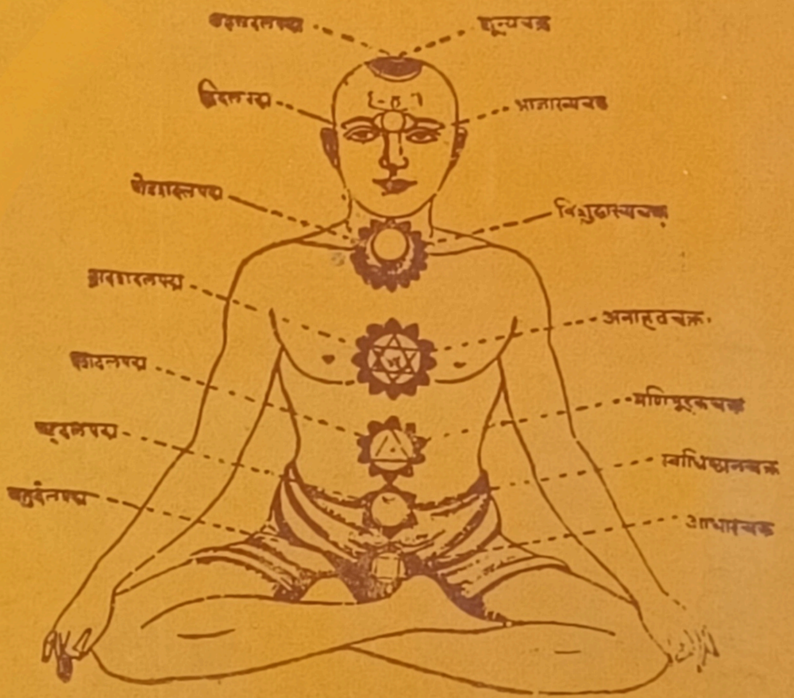

षट्चक्र

व्याख्याकार

स्वामी अनन्तभारती

पूर्व नाम — महामहोपाध्याय डॉ ब्रह्ममित्र अवस्थी

लेखक परिचय

नाम स्वामी अनन्त भारती

पूर्वनाम महामहोपाध्याय डाक्टर ब्रह्ममित्र अवस्थी

जन्म ७ मार्च, १९२७ ई०

रचनाएँ २०० से अधिक शोधनिबन्ध एवं ४५ सुविदित दार्शनिक ग्रन्थ

आप भारतीय दर्शन के विश्वविश्रुत विद्वान् हैं। आपको योगविद्या वंश परम्परा से प्राप्त है आप गुरुकुल अयोध्या के उपकुलपति, गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ इलाहाबाद के प्राचार्य एवं लालबहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ के शोध विभाग के अध्यक्ष रहे हैं। सम्प्रति आप हिमालयन इण्टरनेशनल इंस्टीट्यूट हॉन्सडेल पेंसिलवानिया अमेरिका में सम्मानित प्रोफेसर (Faculty Member) हैं।

योगरत्नाकर

[ब्रह्म निर्वाण तन्त्र]

YOGA-RATNĀKARA

[BRAHMA NIRVĀṆA-TANTRA]

योगरत्नाकर

[ब्रह्म निर्वाण तन्त्र]

मूल लेखक

स्वामी वीरेश्वरानन्द ब्रह्मचारी

व्याख्याकार

स्वामी अनन्त भारती

पूर्व नाम

महामहोपाध्याय डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी

स्वामी केशवानन्द योग संस्थान

दिल्ली

भारत सरकार की आंशिक सहायता से मुद्रित

स्वामी केशवानन्द योग संस्थान
बी-२/१३६-१४०, सेक्टर ६,
रोहिणी, दिल्ली-११००८५ (भारत)
दूरभाष : ७२७८३०४

१९९३ ई०

मूल्य :

मुद्रक :
पङ्कज प्रिंटर्स
५३६ए, विजय पार्क
दिल्ली-११००५३
दूरभाष : २२६२८५०

समर्पणम्

अज्ञानान्ध विनाशने सुविदितौ यौ भास्करौ
लोकानां भवतापपापहरणे चन्द्रोपमौ शाश्वतौ।
शिष्याणां परिपालनेऽथ नितरां पृथ्वीसमौ संमतौ
वन्दे तौ पुरुषोत्तमौ गुरुवरौ श्रीराम-श्रीकेशवौ ।।
योगरत्नाकरे शुभ्रां दीपिकां नूतनामिमाम्।
भक्त्या समर्पयाम्यद्य पादपद्मेषु केवलाम्।

गुरु पूर्णिमा
सं० २०५० वि०

अनन्त भारती

आभार

योगरत्नाकर लययोग साधना विधि का प्रतिपादक अब तक अप्रकाशित अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। मुझे इस ग्रन्थ की मैथिली लिपि में एक जीर्ण प्रति एक मैथिल ब्राह्मण से बहुत वर्ष पूर्व प्राप्त हुई थी। लगभग १६८२ में प्रयाग स्थित गंगानाथ झा केन्द्रीय शोध संस्थान में इस ग्रन्थ की एक अन्य प्रति विद्यमान होने की सूचना मिली। दोनों प्रतियां मैथिली लिपि में ही थीं। मैथिली से देवनागरी में लिप्यन्तरण का कार्य करने में उस संस्था में ही दर्शन विभाग में रीडर डा० किशोर नाथ झा ने अपने सहज स्वभाव से इस सहायता करने का स्वयं प्रस्ताव किया। इसी बीच मुझे स्थानान्तरित होकर दिल्ली आना पड़ा, अतः मैं निराश होने लगा। किन्तु डा० किशोर नाथ झा ने उदारता पूर्वक स्वयं लिप्यन्तरण करके मेरा कार्य सरल बना दिया।

पाठ संशोधन और व्याख्या कार्य सम्पन्न होने पर विचार हुआ कि हिन्दी व्याख्या का इंग्लिश अनुवाद करके उसे भी साथ-साथ प्रकाशित किया जाये। किन्तु कुछ विवशताओं के कारण इंग्लिश अनुवाद के बिना ही केवल हिन्दी व्याख्या के साथ ही इसके प्रकाशन का निश्चय मुझे करना पड़ा।

स्वामी केशवानन्द योग संस्थान ट्रस्ट के सचिव श्री प्रभाकर अवस्थी एवं प्रकाशन विभाग के अध्यक्ष श्री दिवाकर अवस्थी के प्रयत्नों तथा स्वामी केशवानन्द योग पत्रिका की सम्पादिका श्रीमती साधना एवं पंकज प्रिटर्स विजयपार्क, दिल्ली के सत्त्वाधिकारी श्री राजेन्द्र तिवारी के सहयोग से यह ग्रन्थ प्रकाशित होकर प्रभु की कृपा से आज आप सबके हाथों में पहुंच रहा है, इसके लिए मैं उस परम प्रभु के प्रति एवं डा० किशोरनाथ झा सहित सभी सहयोगियों के प्रति आभार प्रकट करता हूं। इस ग्रन्थ के सम्पादन और व्याख्यान में जो कुछ भी प्रशस्त है, वह गुरुजनों की महिमा है और जो कमियां या त्रुटियां हैं, वे मेरी हैं। मुझे विश्वास है कि सुधी साधकजन इन त्रुटियों की ओर ध्यान न देकर इसका उपयोग करेंगे।

ज्येष्ठशुक्ल एकादशी
सं० २०५० वि०

विदुषामाश्रवः
स्वामी अनन्त

विषयानुक्रम

विषय वस्तु		पृष्ठ
भूमिका		११-३८
प्रथम तरङ्ग		३९-४५
मंगलाचरण	...	३९
ग्रन्थ प्रयोजन	...	३९
मुनि लक्षण	...	४०
आहार	...	४१
प्राणायाम विधि	...	४१
प्राणायाम परिमाण	...	४३
प्राणायाम-फल	...	४४
द्वितीय तरङ्ग		४६-६३
आसन	...	४६
आसन (विस्तर)	...	४७
साधना की तैयारी	...	४८
मेरु दण्ड	...	४८
नाड़ी कन्द	...	४९
नाड़ियों के उत्पत्ति स्थान	...	५०
नाड़ी ज्ञान फल	...	५१
मूलाधार-पद्म	...	५२
कुण्डलिनी	...	५६
तृतीय तरङ्ग		६४-९९
मूलादि पद्म ध्यान	...	६४
स्वाधिष्ठान पद्म ध्यान	...	६४
मणिपूर पद्म ध्यान	...	६८
अनाहत पद्म ध्यान	...	७१
विशुद्ध पद्म ध्यान	..	७६

विषय वस्तु		पृ.

आज्ञापद्म	...	८०
सहस्रार पद्म	...	८८
चतुर्थ तरङ्ग		१००-१०३
शरीरगत तीर्थ	...	१००
देवता तर्पण	...	१००
न्यास एवं ध्यान	...	१०१
नित्या सपर्या	...	१०२
हवन	...	१०२
स्नान-होम फल	...	१०३
पञ्चम तरङ्ग		१०४-११४
अन्तर्याग	...	१०४
अन्तर्याग फल	...	१११
कुण्डलिनी साधना	...	११४
षष्ठ तरङ्ग		११५-११७
सृष्टि उत्पत्ति क्रम	...	११५
सप्तम तरङ्ग		११८-१२६
प्राण विवरण	...	११८
स्वर साधना	...	१२०
खेचरी मुद्रा	...	१२३
उपसंहार	...	१२३
परिशिष्ट		१२७-१२९
श्लोकानुक्रमणी	...	१२७

भूमिका

योगरत्नाकर आचार्य वीरेश्वर ब्रह्मचारीकृत योग विषयक एक एक ऐसी रचना है, जिसका अब तक प्रकाशन नहीं हो सका है। यह ग्रन्थ अब तक पाण्डुलिपि के रूप में विद्यमान रहा है यद्यपि हस्त-लिखित रूप में भी इसकी अधिक प्रतियां जानकारी में नहीं है। हमारे संग्रह के अतिरिक्त इस ग्रन्थ की एक अन्य पाण्डुलिपि **गंगानाथ झा** के **संस्कृत** विद्यापीठ, इलाहाबाद के संग्रहालय में क्रमांक ७४७४ पर संगृहीत है। इसकी एक अन्य प्रति की जानकारी Skt १८७१-६० by Rajendralal Mitra, Calcutta में भी मिलती है।

योग के अन्य ग्रन्थों के समान यह ग्रन्थ भी बहुत ही लघुकाय है। इसमें सात तरङ्गों में कुल एक सौ पचहत्तर (१७५) श्लोक हैं, जिनका विभाजन इस प्रकार है प्रथम तरङ्ग अठारह (१८), द्वितीय तरङ्ग चौंतीस (३४), तृतीय तरङ्ग इक्यावन (५१), चतुर्थ तरङ्ग छ (६), पंचम तरङ्ग सैंतीस (३७) छठा तरङ्ग सात (७) एवं सप्तम तरङ्ग बाइस (२२)।

लेखक ग्रन्थ के प्रारम्भ में पांचवें पद्य में ग्रन्थ के मूल लेखक के रूप में अपने नाम **वीरेश्वर** का संकेत करता है—"श्रीमद् वीरेश्वरा-नन्दस्तनोति ज्ञानसिद्धये। योगरत्नाकरं ग्रन्थम्—इत्यादि।" ग्रन्थ के अन्त में अर्थात् सप्तम तरङ्ग के अन्तिम (बाइसवें) पद्य में ग्रन्थकार ने अपने नाम के साथ अपने गुरु **श्री हरिहरानन्द नाथ** के नाम का भी उल्लेख किया है। "श्रीमद् हरिहरानन्दनाथशिष्येण धीमता। श्रीमद वीरेश्वरानन्दकृतिना ग्रन्थ ईरितः।"

इन दो उल्लेखों के अतिरिक्त प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रत्येक तरङ्ग के अन्त में पुष्पिका के रूप में "इति श्रीमद् वीरेश्वरानन्द ब्रह्मचार्यग्रणी विरचिते योगरत्नाकरे प्रथमः (द्वितीयः तृतीयः इत्यादि) तरङ्गः।"

इत्यादि रूप से वाक्य का निवेश भी मिलता है।[1] इन संकेतों से इस ग्रन्थ के रचयिता के रूप में वीरेश्वर अथवा वीरेश्वरानन्द नाम की पुष्टि होती है।

प्रथम तरङ्ग की पुष्पिका में वीरेश्वर नाम के साथ ब्रह्मचार्यग्रणी विशेषण के साथ गुरु हरिहरानन्द नाम भी लिया गया है। "श्री हरिहरानन्द ब्रह्मचार्यग्रणी परमहंस श्रीचरणसरोजशिष्य श्री वीरेश्वरानन्दब्रह्मचारिरचिते योगरत्नाकरे प्रथमस्तरङ्गः।" इस पुष्पिका वाक्य से, उनके गुरु श्री हरिहरानन्द थे' इस तथ्य की भी पुष्टि हो जाती है।

इन संकेतों में वीरेश्वर के लिए ब्रह्मचार्यग्रणी विशेषण तथा उनके गुरु स्वामी हरिहरानन्द के लिए 'ब्रह्मचर्यग्रणी' 'परमहंस' तथा 'नाथ' विशेषणों का प्रयोग मिलता है। चतुर्थ तरङ्ग की पुष्पिका में वीरेश्वर के नाम के पूर्व महामहोपाध्याय विशेषण का भी प्रयोग हुआ है। इन तथ्यों से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

१. ग्रन्थ के लेखक का पूरा नाम वीरेश्वरानन्द है, जिन्हें संक्षेप में वीरेश्वर भी कहा जाता रहा है।
२. वीरेश्वरानन्द आजन्म ब्रह्मचारो रहे हैं, एवं ब्रह्मचारी के रूप में इनकी अच्छी प्रतिष्ठा रही है।

---

१. (क) श्रीहरिहरानन्दब्रह्मचार्यग्रणी परमहंस श्रीचरणसरोजशिष्य श्रीवीरेश्वरानन्द्ब्रह्मचारि रचिते योगरत्नाकरे प्रथमस्तरङ्गः।
(ख) इति श्रीवीरेश्वरानन्दब्रह्मचारि रचिते योगरत्नाकरे द्वितीयस्तरङ्गः।
(ग) इति श्रीमद् वीरेश्वरानन्दब्रह्मचार्यग्रणी रचिते योगरत्नाकरे तृतीयस्तरङ्गः!
(घ) इति श्रीमहामहोपाध्यायविश्वेश्वरानन्द (वीरेश्वरानन्द) ब्रह्मचारि विरचिते योगरत्नाकरे चतुर्थस्तरङ्गः।
(ङ) इति श्रीवीरेश्वरब्रह्मचार्यग्रणी विरचिते योगरत्नाकरे पञ्चमस्तरङ्गः।
(च) इति श्रीमद्वीरेश्वरब्रह्मचार्यग्रणी विरचिते योगरत्नाकरे षष्ठस्तरङ्गः।
(छ) इति श्रीमद् वीरेश्वरानन्दब्रह्मचार्यग्रणी विरचिते योगरत्नाकरे सप्तमस्तरङ्गः।

३. वीरेश्वरानन्द विद्या के क्षेत्र में अपने समय में पर्याप्त प्रतिष्ठा अर्जित कर चुके थे। इस कारण उन्हें **महामहोपाध्याय** इस सम्मानपूर्ण विशेषण से भी विभूषित किया जाता रहा है।

४. वीरेश्वर नाम के साथ आनन्द शब्द का प्रयोग होने से (वीरेश्वरानन्द) यह अनुमान करना भी अनुचित न होगा कि उन्होंने ग्रन्थ रचना के पूर्व सन्यास दीक्षा ग्रहण कर ली थी। किन्तु सन्यास दीक्षा ग्रहण किये अभी अधिक दिन नहीं हुए थे, अतः उनके लिए वीरेश्वर नाम का भी प्रयोग बहुधा होता रहा है।

५. वीरेश्वरानन्द श्री हरिहरानन्द के शिष्य थे।

६. वीरेश्वर के गुरु हरिहरानन्द भी आजीवन ब्रह्मचारी रहे हैं एवं ब्रह्मचारी के रूप में ही उनकी ख्याति भी रही है।

७. वीरेश्वर के गुरु हरिहरानन्द **नाथ सम्प्रदाय** की परम्परा के साधु रहे हैं, इसीलिए उनके नाम के साथ नाथ शब्द का भी प्रयोग होता रहा है।

संस्कृत साहित्य के इतिहास में इन वीरेश्वरानन्द के अतिरित १५ अन्य वीरेश्वरों का हमें संकेत मिलता है। इनमें दो उल्लेख वीरेश्वर (विश्वेश्वर) पंडित के नाम से है। इनमें एक को पंडितराज जगन्नाथ का गुरु माना जाता है (देखिये रस गंगाधर प्रस्तावना काव्यमाला संस्करण) एवं दूसरा उल्लेख रसरत्नावली अलंकार ग्रन्थ के लेखक रूप में। ये दोनों उल्लेख एक ही वीरेश्वर की ओर संकेत करते हैं, अथवा दो व्यक्तियों की ओर प्रमाणों के अभाव में इस विषय में कुछ कहना उचित नहीं है।

इसी प्रकार वीरेश्वर भट्ट नाम से भी दो उल्लेख हैं: एक विश्वनाथ के पुत्र **संशयतत्त्व निरूपण** के लेखक एवं अन्य **कवीन्द्र चन्द्रोदय में** उल्लिखित। यहाँ भी इनके भिन्न अथवा अभिन्न होने के सम्बन्ध में अभी कुछ कहना संभव नहीं है। इनके साथ ही भट्टोजिदीक्षित के पुत्र तथा **मनोरमा शब्दरत्न** के लेखक हरिदीक्षित के पिता वीरेश्वर दीक्षित, **विवाद रत्नाकर** के लेखक चण्डेश्वर ठक्कुर के पिता वीरेश्वर, विष्णु सहस्रनाम टीका के लेखक गंगाधर के पितामह एवं सदाशिव के

पिता वीरेश्वर **महाउड़कर**, तथा **अन्योक्ति शतक** के लेखक हरि द्राविड़ के पुत्र वीरेश्वर मौद्गल्य।

इनके अतिरिक्त **जागदीशी** की एक टीका, **ज्येष्ठा पूजाविलास एवं दिवाकर पद्धति प्रकाश विवरण** एवं **विवादार्णव भंजन** के लेखकों में अन्यतम के रूप में वीरेश्वर नाम प्राप्त होता है। धर्म शास्त्र के लेखक रघुनन्दन ने तीन बार वीरेश्वर का नाम लिया है। तथा वेणीदत्त के पिता एवं लक्ष्मण के पुत्र के रूप में तथा एक अन्य शिव पंडित के पौत्र एवं हरि पंडित के पुत्र के रूप में वीरेश्वर की चर्चा मिलती है। किन्तु इनमें प्रत्येक को पृथक्-पृथक् मानना चाहिए अथवा इनमें से अनेक को अभिन्न मानना चाहिए इसका निर्णय विशिष्ट ऐतिहासिक अनुसन्धान की अपेक्षा रखता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक वीश्वरानन्द क्योंकि बाल ब्रह्मचारी थे, जैसा कि योगरत्नाकर के प्रत्येक तरङ्ग की पुष्पिका में निर्दिष्ट है, अतः इन्हें पूर्व संकेतित वीरेश्वर से भिन्न मानना ही उचित है। वीरेश्वरानन्द ब्रह्मचारी के माता-पिता एवं जन्म स्थान के सम्बन्ध में हमें अभी कोई जानकारी नहीं मिल सकी है। हां योगरत्नाकर में उनके गुरु ब्रह्मचारी हरिहरा**नन्द नाथ** का नाम प्राप्त होता है। संस्कृत वाङ्मय के इतिहास में **भैरवी पटल**, **बागला मन्त्रसाधना** एवं **उत्तर गीता** के व्याख्याकार के रूप में हरिहरानन्द स्वामी का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त योगभाष्य पर प्रकाशित भास्वती टीका एवं योग कारिका के लेखक भी हरिहरानन्दस्वामी है। क्योंकि योग रत्नाकर के तृतीय तरङ्ग की विषय वस्तु मूलाधार आदि चक्रों का विवरण तन्त्र शास्त्र से सम्बद्ध है, तथा भास्वती एवं योग कारिका में तन्त्र शास्त्र से सम्बद्धता का संकेत भी नहीं मिलता, अतः वीरेश्वर को भास्वती एवं योगकरिका के लेखक हरिहरानन्द का शिष्य मानना उचित प्रतीत नहीं होता। किन्तु **भैरवी पटल**, एवं **बागला मन्त्रसाधना** आदि के लेखक हरिहरानन्द एवं वीरेश्वर के गुरु हरिहरानाथ को अभिन्न मानने में कोई बाधा नहीं प्रतीत होती। वस्तुतः योगरत्नाकर के लेखक के ऐतिहासिक पक्ष पर स्वतन्त्र रूप से अनुसन्धान की अपेक्षा है।

विषय वस्तु

प्रस्तुत ग्रन्थ योग रत्नाकर तरङ्ग नाम से अभिहित सात खण्डों में विभक्त **तन्त्रयोग** साधना का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। और इसकी विषय वस्तु सिद्ध सम्प्रदाय की साधना पद्धति, जिसे **लययोग** कहना अधिक उचित होगा, से सम्बद्ध है। इस साधना पद्धति में मेरु दण्ड के अन्तर्गत विद्यमान सुषमा नाड़ी के अन्दर चित्रा नाड़ी में स्थित वज्रिणी नाड़ी में अनुस्यूत क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत या हृत्पद्म, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार पद्मों में क्रमशः चित्त का लय करने का अभ्यास किया जाता है। इसे ही **कुण्डलिनी साधना** भी कहते हैं। विभिन्न पद्मों में चित्त के लय का अभ्यास करने के कारण इसे लय योग ही कहना चाहिए। स्मरणीय है कि दत्तात्रेय योग शास्त्र में मन्त्र योग लययोग हठयोग तथा राजयोग नाम से योग के चार मुख्य प्रकार स्वीकार किये गये हैं।[1] तथा वहां राजयोग साधना पद्धति के अन्तर्गत प्राणायाम की जिस साधना पद्धति का वर्णन हुआ है, एवं प्राणायाम साधना के क्रम में पञ्चभूत धारणा का जो वर्णन हुआ है।[2] उसका परिणाम प्रस्तुत ग्रन्थ के तृतीय चतुर्थ पटल में वर्णित मूलाधार आदि पद्मों में चित्त लय के परिणामों से बहुत भिन्न नहीं है। इन दो पटलों की साधना पद्धति ही प्रस्तुत ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य है। इनसे पूर्व के प्रथम एवं द्वितीय पटलों में वर्णित आसन एवं नाड़ी तन्त्र का संक्षिप्त परिचय उक्त मुख्य **लय-साधना** के अंग के रूप में ही हुआ है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगल एवं ग्रन्थ प्रयोजन का उल्लेख करके ग्रन्थ कार ने इस लय साधना के अधिकारी के रूप में मुनि का लक्षण चार पद्यों में किया है। उसके अनुसार साधक मुनि को शान्त धीर क्षमा-शील दयावान् एवं स्थिर-बुद्धि होना चाहिए। उसे ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाला, इन्द्रियजयी आत्मतत्त्व को जानने वाला, मौनी, भोग के प्रति विरक्त, विषय को विष की भांति समझने वाला, क्षार

---

१. मन्त्रयोगो लयश्चैव हठयोगस्तथैव च।
राजयोगश्तुर्थः स्याद् योगानामुत्तमस्तु सः॥
—दत्तात्रेययोगशास्त्र १८-१९

२. दत्तात्रेययोगशास्त्र २२०-२४२।

अम्ल लवण आदि स्वादिष्ट लगने वाले भोज्य रसों के प्रति तष्णा रहित और अल्पाहारी होना चाहिए। इतना ही नहीं उसके चित्त में भी इनके प्रति लालसा नहीं होनी चाहिए। अधिक उचित है कि वह आहार में केवल गोदुग्ध का ही प्रयोग करे। वस्तुत: योग साधना में सिद्धि प्राप्त करने के लिए घृत मिला कर केवल दूध का आहार लेना ही उचित है।

लय योग साधना के लिए प्राणायाम का अभ्यास करना भी आवश्यक होता है। इसके लिए साधक को धीरे-धीरे पूरक कुम्भक एवं रेचक क्रियाओं का विधिवत् अभ्यास करना चाहिए। इस अभ्यास के फलस्वरूप वात पित्त और कफ तीनों में से किसी भी एक अथवा दो अथवा तीनों ही धातुओं के दोष दूर होते हैं। ग्रन्थकार के अनुसार प्राणायाम साधना सम्बन्धी जानकारी गुरु मुख से ही प्राप्त करनी चाहिए तथा उसका अभ्यास धीरे-धीरे वायु की गति का ज्ञान रखते हुए करना चाहिए। क्योंकि उनके अनुसार अपेक्षित सावधानी न रखने पर शरीर में से वात पित्त और कफ इनमें किसी एक दो अथवा तीनों दोषों से उत्पन्न रोग अथवा दांत और शिर की पीड़ा श्वास प्रश्वास सम्बन्धी रोग खांसी रुधिर वमन आदि विविध प्रकार के रोग उत्पन्न हो सकते हैं। (११६-११)

प्राणायाम साधना में रेचक पूरक कुम्भक के करने में समय के अनुपात का भी विशेष महत्त्व होता है। उनके अनुसार पूरक में १६ मात्रा, रेचक में बत्तीस मात्रा एवं कुम्भक में चौसठ (६४) काल मात्रा का समय लगना चाहिए। अभ्यास क्रम में प्रथम वाम नासिका से सोलह मात्रा काल में पूरक करके ६४ मात्रा काल तक कुम्भक करके बत्तीस मात्रा काल में दाहिनी नासिका से रेचक कर करना चाहिए। पुन: उतने ही काल में दाहिनी नासिका से पूरक करके कुम्भक करने के अनन्तर बायीं नासिका से रेचक करना चाहिए। तथा इसी क्रम की बार-बार आवृत्ति करनी चाहिए। इस प्राणायाम साधना क्रम में यदि प्रणवजप सहित ध्यान भी जुड़ा रहता है तो वह सगर्भ प्राणायाम कहाता है तथा प्रणव जप होने एवं ध्यान का संयोजन न होने पर इसे निगर्भ प्राणायाम कहा जाएगा।

ग्रन्थकार के अनुसार इस प्राणायाम साधना के फलस्वरूप योगी का समस्त अघ अर्थात् अपुण्य-कर्माशय नष्ट हो जाता है, उसका स्थूल शरीर भी निर्मल और दिव्य हो जाता है। रोग तो उसके पास फटकते ही नहीं। सभी जनों, राजा महाराजाओं के लिए भी वह अत्यन्त पूज्य हो जाता है। वह सभी विश्व का पालन करता है। उसके शरीर का सौन्दर्य एवं आकर्षण इतना बढ़ जाता है कि कामिनियां उस पर इस प्रकार मोहित होती रहती है, मानों वह साक्षात् कामदेव हो। उसे सभी शास्त्रों के तात्पर्यार्थ हस्तामलकवत् हो जाते हैं। समस्त सिद्धियां उसे प्राप्त हो जाती हैं, सभी मन्त्र भी उसे स्वतः सिद्ध हो जाते हैं। सभी प्राणी उसे देवता की भांति पूजने लगते हैं।

प्रथम तरङ्ग में प्राणायाम की इस संक्षिप्त चर्चा के बाद ग्रन्थकार ने द्वितीय तरङ्ग के प्रारम्भ में भद्रासन स्वस्तिकासन, वज्रासन कमलासन अर्थात् पद्मासन एवं वीरासन इन पांच आसनों की गणना करके इन पांचों को करने की विधि अत्यन्त संक्षिप्त रूप से बताई है। उसका कहना है कि वीरासन भगवान् राम का प्रिय आसन रहा है। स्मरणीय है कि दत्तात्रेय योगशास्त्र शाण्डिल्य और जाबाल योग आदि ग्रन्थों में वीरासन को छोड़कर केवल शेष चार आसनों को ही ध्यान के लिए उपयोगी आसनों में स्वीकार किया गया है।

वीरेश्वर के अनुसार साधक को योग-साधना मृग चर्म अथवा व्याघ्र चर्म पर पूर्व अथवा उत्तराभिमुख बैठकर करनी चाहिए। साधना प्रारम्भ करने से पूर्व तान्त्रिक विधि से भूमि शुद्धि, विघ्न निवारण, दिग्बन्धन, आसन शुद्धि आदि की क्रियाएं करनी चाहिए। ग्रन्थकार ने इन क्रियाओं की विधि और अपेक्षित मन्त्रों का उल्लेख यहां नहीं किया है। उसका कहना है कि यह सब सीधे गुरुमुख से ही सीखना चाहिए, तभी इसमें सफलता मिलती है।

उपर्युक्त पूर्व तैयारी करके साधना प्रारम्भ करने से पूर्व गुरु की पूजा अपने आराध्य देव की पूजा तथा गणेश, बटुक भैरव, योगमाता-मां शक्ति एवं अपने इष्टदेव की अराधना करके मूलाधार पद्म से लेकर निर्वाण पद्म अर्थात् सहस्रार पद्म तक सभी पद्मों का एकबार ध्यान उसी प्रकार लेना चाहिए, जिस प्रकार वायुयान का चालक वायुयान

को उड़ानें के पूर्व उसके सभी प्रमुख यन्त्रों तेल बिजली पानी आदि का

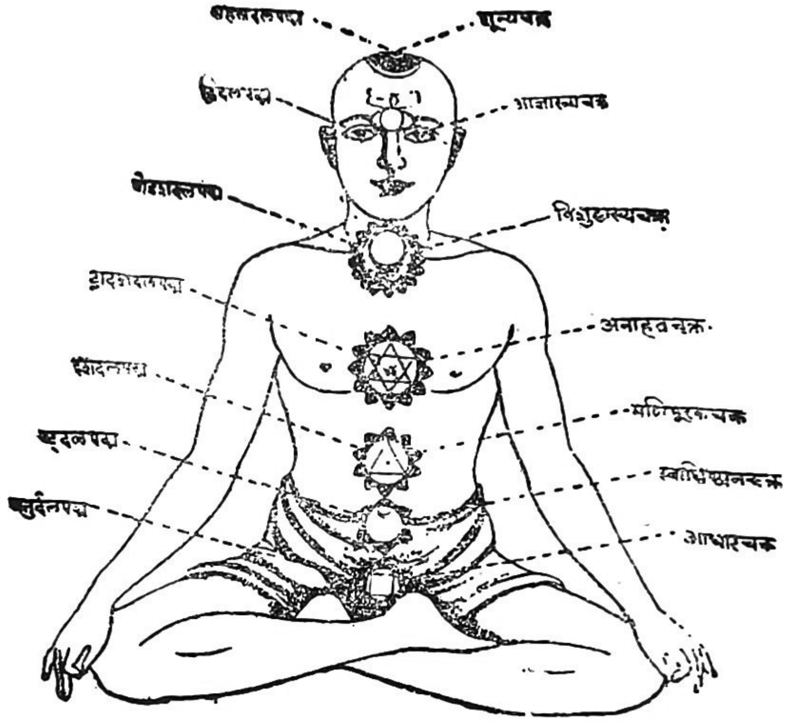

[पद्मों (चक्रों) के स्थान]

एक बार भली प्रकार निरीक्षण कर लेता है। उसके अनन्तर उसे प्राणायाम पूर्वक ध्यान साधना प्रारम्भ करनी चाहिए।

इसके अनन्तर ग्रन्थकार ने मूलाधार पद्म का ध्यान करने के लिए उसका परिचय देने के उद्देश्य से गुदा स्थान से मस्तक पर्यन्त सुस्थिर सुवर्णोज्वल मेरु दण्ड का परिचय दिया है। यह मेरु दण्ड सुकाण्ड अर्थात् परस्पर संयुक्त लम्बाकृति वाली अनेक अस्थियों के समूह के रूप में है। इसमें ही शरीरगत सभी देवों की स्थिति है। साधक को चाहिए कि साधना को प्रारम्भ करने के पूर्व सर्वप्रथम इस मेरुदण्ड के समग्र स्वरूप का और उसमें स्थित देववृन्द का ध्यान करें।

इस मेरु दण्ड के निकट गुदा के ऊपर लिङ्ग अथवा योनि स्थान से नीचे चार वर्ग अंगुल परिमाण का एक दिव्य कन्द स्थित हैं इसकी ऊंचाई उसके परिमाण से आधी है। इसकी आकृति बारह पत्रों वाले खिले हुए कमल के समान होती है, यही सभी पद्मों का अग्रभाग अर्थात् मूल कन्द अथवा मूल आधार है। इस त्रिकोण मूल कन्द के बायीं ओर **इडानाड़ी**, जिसे **चन्द्र नाडी** भी कहते हैं, दाहिनी ओर **पिङ्गला नाडी**,

जिसे **सूर्य नाड़ी** भी कहते हैं, तथा सामने मध्य कोण में सुषुम्णा नाड़ी का उदय स्थान है। **सुषुम्णा** नाड़ी यहां मध्य से प्रारम्भ होकर मस्तक पर्यन्त जाती है। इस कन्द से निकल कर साढ़े तीन करोड़ नाडियां प्रारम्भ होकर पूरे शरीर में फैली हुई हैं। इन साढे तीन करोड़ नाड़ियों में **इड़ा पिङ्गला सुषुम्ना गान्धारी यशस्विनी पूषा हस्तिजिह्वा अलम्बुषा कुहू** और **शंखिनी** दस नाड़ियां प्रमुख हैं। इन दस नाड़ियों में भी **इडा पिङ्गला** और **सुषुम्णा** प्रमुख हैं।

नाड़ियों की स्थिति

मूल कन्द स्थान से प्रारम्भ होने वाली नाड़ियों में **गान्धारी** बाये नेत्र पर्यन्त, **यशस्विनी** बायें कान पर्यन्त, **पूषा** दाहिने कान एवं **हस्ति जिह्वा** दाहिने नेत्र पर्यन्त, **अलम्बुषा** मुख पर्यन्त, **कुहू** लिङ्ग पर्यन्त, **शंखिनी** मूल स्थान पर्यन्त जाती हैं। इसी प्रकार अन्य नाड़ियां छत्र की भांति शरीर में फैली हुई हैं। प्रमुख तीन नाडियों में **इडा** नामक **चन्द्रनाड़ी** बाईं ओर तथा **पिङ्गला** नामवाली **सूर्य नाड़ी** दाहिनी ओर तथा दोनों के मध्य में धतूर पूष्प की आकृति वाली **सुषुम्णा** उसी प्रकार सुशोभित होती है, जिस प्रकार पूर्णचन्द्र एवं सूर्य के मध्य सुमेरु पर्वत शोभायमान होता है।

इन नाडियों में से **सुषुम्ना** नाडी के मुख भाग से ही **वज्रिणी** नाडी प्रारम्भ होती है, जो **सुषुम्ना** के अन्दर ही अन्दर उसके अन्तिम छोर तक जाती है। **वज्रिणी** नाड़ी के अन्दर पुनः **चित्रिणी** नाड़ी है। यह नाड़ी मृणाल तन्तु के सदृश सूक्ष्म है और पृथिवी स्थानी **मूलाधार** पद्म से प्रारम्भ होकर ऊपर को जाती है। इस **चित्रिणी** नाड़ी के भी अन्दर एक अत्यन्त सूक्ष्म नाड़ी है, जिसे **ब्रह्मनाडी** कहते हैं। यह नाड़ी **स्वयंभू लिङ्ग** के मुख भाग से प्रारम्भ होकर ऊपर स्थित ब्रह्मरन्ध्र तक विस्तृत है। यह ब्रह्मनाड़ी अति सूक्ष्म है; साथ ही अत्यधिक प्रकाश के सदृश कान्तिमती है। करोड़ों सूर्यों अथवा अति तीव्र चञ्चल विद्युत से ही इसकी कान्ति की उपमा दी जा सकती है। इस नाड़ी में ही सहस्रार पर्यन्त सभी पद्म अनुस्यूत हैं।

ग्रन्थकार की मान्यता है कि जो साधक नाड़ी के इस क्रम को जानकर ध्यान साधना में प्रवृत्त होता है, वह स्वयं सूर्य चन्द्र की भांति

कान्तिमान तो होता ही है, साथ ही उसके जन्म जन्मान्तर के पाप भी नष्ट हो जाते हैं और वह निर्मल बुद्धि वाला होकर अमर हो जाता है तथा जरा मृत्यु के बन्धन से भी मुक्त हो जाता है।

मूलाधार पद्म

इस पूर्ववर्णित ब्रह्मनाड़ी के नीचे **मूलाधार पद्म** है। इसे **मूल पद्म**

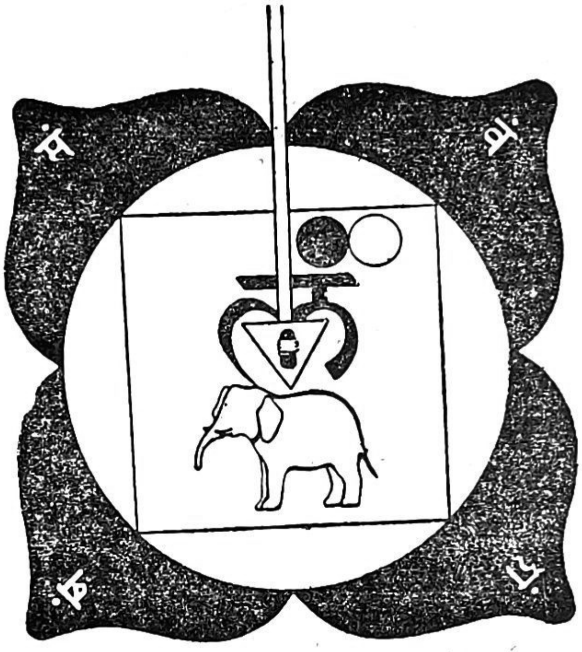

Mūlādhāra the base chakra

भी कहते हैं। इस पद्म में चार पत्र हैं। अधोमुख इस पद्म के प्रत्येक पत्र पर **'वं शं षं सं'** वर्णों में एक-एक वर्ण बीजमन्त्र के रूप में अंकित है। इसके पत्रों का वर्ण प्रदीप्त शुद्ध काञ्चन वर्ण के समान है तथा अंकित वर्णों की कान्ति और भी अधिक तीव्र तथा उज्ज्वल है। यह पद्म पृथिवी का स्थान माना जाता है। इसकी कर्णिका में अत्यन्त निर्मल पीतवर्ण कोटि विद्युत के समान देदीप्यमान चारबाहुओं वाला भूमि बीज लं प्रतिष्ठित है, यह, आठ कोणों से युक्त वज्रमण्डल से आवृत है। पीतवर्ण यह भूमिबीज गजराज के पृष्ठ पर स्थित है, इसके अंक में सूर्य के समान अत्यन्त तेजस्वी पीतवर्ण चतुर्बाहु, स्व प्रकाश से ही सृष्टि की रचना करने वाले ब्रह्मा बाल रूप में अपने हाथ में कमण्डलु अक्षमाला एवं कमल इन हस्ताभूषणों को लिये हुए विराजमान रहते हैं। इनके बांयी ओर योग माता डाकिनी विराजमान है, प्रमत्त की

भांति लाल नेत्रों वाली इन योग माता की कान्ति करोड़ों सूर्य की कान्ति के समान है। इनकी चारों भुजाओं में से एक में अक्षमाला एवं दूसरे में जल पात्र है। साधक योगियों को साधना में प्रकाश इनसे ही प्राप्त होता है संभवत: इसी कारण इन्हें योग माता कहा जाता है।

इस **मूलधार** पद्म की कर्णिका में एक और त्रिकोण है, इसे, 'त्रैपुर' कहा जाता है। यह कोटि विद्युत के समान भासमान है। इसे **कामरूप** पीठ कहा जाता है। अपान वायु का मूल केन्द्र यहीं है, और यह अन्दर से पूर्ण प्रकाशमय है। इस त्रिकोण के अन्दर ऊपरी भाग में सूर्य के सदृश अद्‌भुत प्रकाश युक्त सुन्दर अनार के पुष्प की आकृति वाला कामदेव की भांति अतिमनोरम आकृति वाला **स्वयंभू लिङ्ग** है। इस पर अत्यन्त रमणीय उज्ज्वल चन्द्र विद्यमान है, जिसका प्रकाश विद्युत सूर्य और अग्नियों की समष्टि के समान अत्यन्त दीप्त है। इस स्वयंभू लिङ्ग के अन्तर्गत विद्यमान ब्रह्मनाड़ी के अन्तर्गत अत्यन्त सूक्ष्म एवं अति उज्ज्वल कान्ति युक्त परा चित्कला अर्थात् चित् शक्ति विराजमान रहती है।

इसके ऊपर योगाभ्यास द्वारा ही जिसे जाना समझा जा सकता है, ऐसी कुण्डलिनी, स्वयंभू लिङ्ग पर विराजमान है। मृणाल तन्तु की भांति अति सूक्ष्म, शुभ्र, किन्तु अत्यन्त दीप्त, ब्रह्म रूपिणी यह कुण्डलिनी इस स्वयंभूलिङ्ग को साढे तीन बार लपेटे हुए हैं। करोड़ों विद्युत एवं सूर्य की भांति दीप्ति युक्त यह कुण्डलिनी स्वरूप में शंख के आवर्त्त के समान प्रतीत होती है। यह प्रायः सदा ही अधोमुख स्थित रहती है किन्तु श्वासोच्छ्‌वास के लिए समय समय अपने मुख को बाहर निकालती है।

ग्रन्थकार की मान्यता है कि प्राणायाम क्रिया में कुम्भक के समय में जो योगी मूलबन्धन करके वायु और मन को ध्यान के माध्यम से **मूलाधार पद्म** में प्रविष्ट करके उसे अधोमुख से ऊर्ध्वमुख कर लेता है और कन्दर्प-अनल सहित कुण्डलिनी को जागृत कर वहां पहुंचा लेता है, उसे सरस्वती सिद्ध हो जाती है। अति मधुर गद्य-पद्यमयी रचना उसकी भाषा में सदा प्रवाहित होती है। वीरेश्वर के अनुसार कुण्ड-लिनी को जागत करने के लिए साधक को गुरुमुख से सम्पूर्ण प्रक्रिया

जाननी सीखनी चाहिए और उसके अनुसार अभ्यास करते हुए 'हुंकार मन्त्र' से कुण्डलिनी को ब्रह्मनाडी में प्रविष्ट करा करके अमृत पान करते हुए क्रमशः आज्ञाचक्र तक पहुंचाना चाहिए तथा कुछ काल तक उस स्थिति में रहकर कुण्डलिनी को स्वयम्भू लिङ्ग में लाकर पूर्व स्थिति में आ जाना चाहिए। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को समाप्त करने के पूर्व पुनः आज्ञा आदि चक्रों में स्थित देवता की अर्चना करके उस काल की साधना को समाप्त करना चाहिए।

ग्रन्थकार ने इस समस्त साधना क्रम की समष्टि को योनि मुद्रा नाम दिया है, तथा उसका कहना है कि इसका अभ्यास करने से योगी जब चन्द्र सूर्य एवं अग्नि के मिलने से बने त्रिकोण से टपकने वाले अमृत का पान कर प्राण सहित चित्त को स्थिर कर लेता है, तो उसके फलस्वरूप मृत्युञ्जयी तो होता ही है, भगवान् विष्णु के समान तीनों लोकों के रक्षण एवं विनाश में भी समर्थ हो जाता है। साथ ही इस योनि मुद्रा के अभ्यास से उसे समस्त मन्त्रों की सिद्धि, हो जाती है, तथा उसमें काव्य रचना का अपूर्व सामर्थ्य आ जाता है, समस्त शास्त्रों का सहज पारङ्गत होने के साथ ही वह समस्त सिद्धियों का भी अधिष्ठाता बन जाता है। पूर्व काल में की गयी दोषपूर्ण मन्त्र साधना भी समस्त दोषों से रहित होकर पूर्ण सिद्ध हो जाती हैं। इस साधना को प्रतिदिन करके शक्ति में शिव के समान, लोक पालन आदि में ब्रह्मा के समान तथा सौन्दर्य आदि गुणों के कारण कामदेव के समान हो जाता है। उसकी वाणी में साक्षात् सरस्वती निवास करती है, तथा वह समस्त पापों से मुक्त होकर जन्म-मरण के बन्धन से भी मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार ग्रन्थकार ने मूलाधार पद्म के जागरण (ध्यान) पर्यन्त की साधना का वर्णन करके द्वितीय तरङ्ग का अवसान कर दिया है।

तृतीय तरङ्ग को ग्रन्थकार ने पद्मसाधना सामान्य की चर्चा से प्रारम्भ किया है, और कहा है कि इस साधना में साधक सर्वप्रथम पूर्व वर्णित क्रम से मूलाधार पद्म का ध्यान करे, पुनः पूरक कुम्भक करते हुए अपनी दृष्टि को नासाग्र पर एकाग्र करे, पुनः भ्रूमध्य गत सुस्थिर ज्योति पर निश्चल ध्यान करे। और इस प्रकार मोक्ष पथ ब्रह्मनाडी में चित्त और वायु को स्थिर करके क्रमशः मूलाधार

से सहस्त्रार पद्म पर्यन्त ध्यान करे। इस भूमिका का निबन्ध करके मूलाधार की भांति क्रमशः **स्वाधिष्ठान** आदि पद्मों का विवरण निम्नलिखित रूप से दिया है।

स्वाधिष्ठान पद्म

मूलाधार पद्म के अनन्तर सुषम्नानाड़ी के अन्तर्गत लिङ्ग के मूल स्थान पर सिन्दूर के वर्ण के सदृश वर्ण वाला अत्यन्त उज्ज्वल प्रफुल्ल

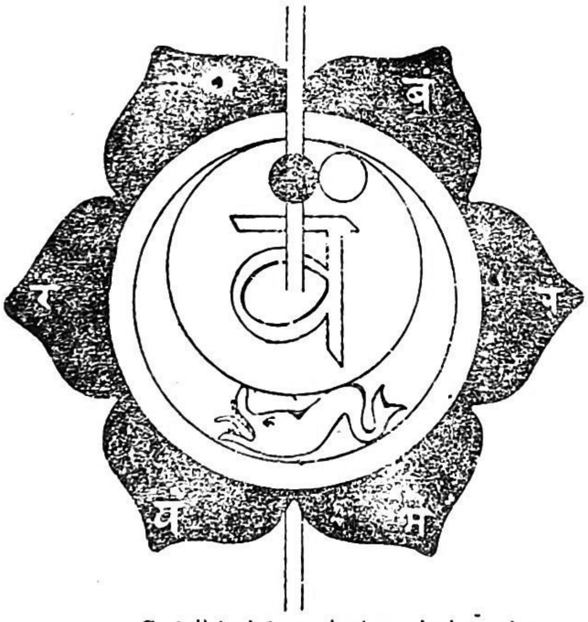

Svādhiṣṭhāna chakra below the navel

षड्दल कमल है। इस प्रफुल्ल पद्म के प्रत्येक पत्र में क्रमशः **बं भं मं यं रं लं** बीजाक्षर उसी वर्ण की अत्यन्त दीप्त कान्ति से युक्त होकर अंकित हैं।

इस पद्म की कणिका में चन्द्रमा की भांति उज्ज्वल दो पद्म हैं, जो वस्तुतः वरुण अर्थात् जल के स्थान के रूप में हैं। यहां मकर आसन पर चतुर्भुज जल देव के बीज मन्त्र वँ का ध्यान किया जाता है। इस स्थल पर भगवान् विष्णु विराजते हैं, जिनका वर्ण नील कमल के समान है। इनकी चारों भुजाओं में क्रमशः गदा कमल चक्र और शंख हैं तथा शरीर श्रीवत्स से अंकित है। उसके वाम भाग में नील मणि की भांति उज्ज्वल कोमल कान्ति वाली राकिणी देवी का स्थान है, जो

विविध वस्त्राभरणों से अलंकृत है तथा इनका चित्त मदनार्द्र माना गया है। राकिणी के चित्त के मदनार्द्र होने की बात सम्भवतः इस दृष्टि से की गयी है कि साधना काल में स्वाधिष्ठान के जागृत होने के समय योगी के चित्त में एक बार मदनवेग पुनः प्रवाहित होता है।

ग्रन्थकार के अनुसार इस पद्म को ध्यान करके योगी जब इसे जागृत कर लेता है, तब वह विष्णु भगवान् के सदृश गुणों से युक्त हो जाता है। लोक उसे विष्णु के समान ही पूजने लगता है। उसकी वाणी अत्यन्त निर्मल हो जाती है और वह देवगणों की समता को प्राप्त कर लेता है।

मणिपूर पद्म

स्वाधिष्ठान पद्म के बाद ब्रह्म नाडी में **मणिपूर पद्म** विद्यमान है। इसका वर्ण नील है तथा इसके दस दलों में क्रमशः **डं ढं णं तं थं दं धं**

Manipura chakra at the navel centre

नं पं फं ये दस बीजाक्षर अंकित हैं। इस पद्म की कर्णिका में स्वस्तिक युक्त त्रिकोण है, जिसमें उदीयमान सूर्य की कान्ति युक्त **अग्नि** का निवास स्थान है।

इस त्रिकोण में मेष के पृष्ठ रूपी आसन पर अग्नि बीज 'रं' अंकित

है, जो नवोदित सूर्य के समान कान्तिमान है। यहीं त्रिकोण में चारबाहु और तीन नेत्रों वाले रुद्र का स्थान है, जिनका शरीर उज्ज्वल भस्म के लेप से उज्ज्वल है, और इनके हाथ वरदान एवं अभय दान की मुद्रा में स्थिर हैं, जो मानों साधक को उसकी निर्बाध साधना में प्रगति के लिए संकेत करते हैं कि अब उसके मार्ग में भय की स्थिति नहीं आनी है, उसका पथ निरापद है एवं उसे साधना में पूर्ण सफलता अवश्य प्राप्त होनी है। मेषाधि रूढ़ इन रुद्र की कान्ति शुद्ध सिन्दूर के समान है। इनके पार्श्व में भस्म लेप से उज्ज्वल श्यामल अंगों वाली वरदान मुद्रा अभयमुद्रा पद्म और असि (तलवार) इन चार आभूषणों से युक्त भुजाओं वाली **लाकिनी देवी** का स्थान है।

इस समग्र स्वरूप से युक्त **मणिपूर पद्म** का ध्यान करने से साधक स्वयं भी रुद्र के समान तेजस्वी, शास्त्रों में वृहस्पति के समान पूज्य, स्त्रियों की दृष्टि में कामदेव के समान सुन्दर मनोरम, निर्बाध रूप से शत्रु के नगर में प्रवेश की क्षमता वाला हो जाता है। अणिमा महिमा लघिमा गरिमा प्राप्ति प्रकाम्य ईशित्व और वशित्व ये सिद्धियां उसकी अंगुलियों पर नाचती है। लक्ष्मी भी सदा उसके अधीन रहती है।

अनाहत पद्म

मणिपुर पद्म के बाद ब्रह्मनाड़ी में नवीन सूर्य की कान्ति से युक्त बारह दलों वाला अति रम्य **हृदयपद्म** है। इस पद्म को ही **अनाहत-पद्म** भी कहते हैं। इसके बारहों पद्मों में क्रमशः कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञं टं ठं ये बारह बीजाक्षर अतिदीप्त रूप में अंकित है। इस पद्म की कर्णिका में छः बिन्दुओं से युक्त (षट्कोण) धूमवर्णमाला एक सूर्य मंडल है। इस मंडल के अन्तर्गत धूमावली से धूसर मृगरूपी आसन पर विराजमान गदासहित वायु बीज यँ बीजाक्षर विद्यमान है। यहां भी प्रभातकालीन सूर्य के सदृश अरुण प्रकाश वाला द्विबाहु अधिष्ठातृ देवता के रूप में स्वयंप्रकाशस्वरूप ईश्वर विराजमान है, जिनके दोनों हाथ वर और अभय मुद्रा से अलंकृत हैं। देवता भी इनकी निरन्तर वन्दना करते हैं। इनके वाम पार्श्व में पीतवर्ण वाली पीले ही वस्त्रों को पहने हुए चार भुजाओं वाली **काकिनी** देवी विद्यमान है। इनके

Anahata at the heart centre

चारों हाथों में वर मुद्रा शूल अभयमुद्रा और पाश आभूषण के रूप में विद्यमान हैं। यह देवी **काकिनी** कामरूपिणी तथा अत्यन्त रमणीय स्वरूप वाली है। यहां पर ही कर्णिका में सूर्य मंडल के अन्दर विद्युत के सदृश कान्तिमान एक त्रिकोण है। उसके अन्तर्गत मणिमय ऊर्ध्व-भागवाला नवोदित सूर्य के समान भासमान बाणलिङ्ग है।

उसके अन्तर्गत वातवेग रहित प्रदीप की भांति हंसरूपी जीव निवास करता है। जो साधक गायत्री मन्त्र का अजपाजप करते हुए इस जीव तत्त्व का ध्यान करता है, वह समस्त अविद्यारूपी अन्धकार पर विजय प्राप्त कर लेता है। ध्यान की दृष्टि से यह **अनाहत पद्म** पूर्व पद्मों की अपेक्षा सर्वाधिक प्रशस्त है। सदा देवताओं द्वारा सेवित और रक्षित चन्द्र सूर्य एवं विद्युत की समष्टि की भांति अत्यन्त प्रदीप्त इस पद्म का मुनिजन सन्त एवं ऋषिगण निरन्तर ध्यान करते रहते हैं।' इस पद्म में निरन्तर ध्यान करने से साधक योगी को अद्भुत सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं। उसके मुख में अपूर्व वाणी निवास करती है। लक्ष्मी तो गृहिणी की भांति सदा ही उसकी सेवा में लगी रहती है एवं शत्रुपुर में भी वह अव्याहतगति होकर विचरण करने में समर्थ हो जाता है। कर्माशय का बन्धन रोग और मृत्यु का भय उसे नहीं रहता वह सर्वजन पूज्य हो जाता है।

विशुद्ध पद्म

अनाहत पद्म से ऊपर सोलह दलों वाला विशुद्ध पद्म है। धूम्र वर्ण के इस पद्म के प्रत्येक पत्र पर क्रमशः एक-एक स्वर वर्ण अर्थात्

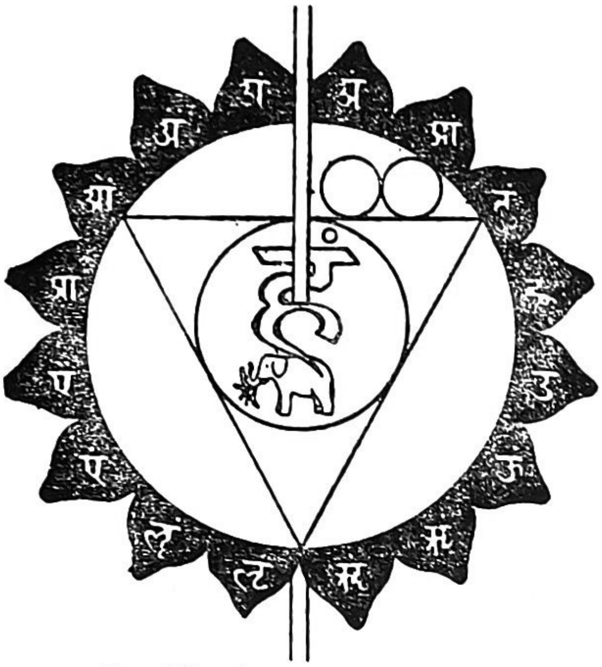

Viśuddha chakra at the throat centre

अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं लृं लॄं एं ऐं ओं औं अं अः बीजाक्षर अंकित है। इस पद्म के मध्य पूर्ण चन्द्र मण्डल के सदृश प्रकाशमान नभोवृत्त अर्थात् आकाश का स्थान है। इसकी कर्णिका में गजेन्द्ररूपी आसन पर अमृत से प्लावित, हिम के सदृश उज्ज्वल अंगों वाला हंकार बीज विराजमान है। चार बाहुओं वाले इस हंकार बीज के चार हाथों में क्रमशः वरदानमुद्रा अभयमुद्रा पाश और अंकुश विद्यमान रहते हैं। इस पद्म का अधिष्ठातृ देवता तुषार की भांति उज्ज्वल तीन नेत्रों वाला पंचमुख **सदाशिव** है। इनके दस हाथों में क्रमशः तीन टंकों वाला त्रिशूल कपाल कृपाण वज्र दावानल नागराज अभयमुद्रा पाश अंकुश और दिव्यघटा आभूषण के रूप में विराजमान रहते है। ग्रन्थकार के अनुसार जो साधक व्याघ्र चर्म से आवृत इस चन्द्रचूड सदाशिव की उपासना करता है, उसके हाथ में सिद्धियां नित्य विद्यमान रहती हैं।

इन सदाशिव विश्वनाथ के वाम भाग में हिम के समान शुभ्र अंगों वाली पीतवस्त्रा शाकिनो विराजमान हैं। कमल के सदृश सुन्दर सुन्दर इनके चार हाथों में क्रमशः धनुष पाश बाण और सृणि अर्थात् अंकुश विद्यमान रहता है। कमल की भांति सुन्दर इनके नेत्रों में सदा-मस्ती विद्यमान रहती है।

त्रिशुद्ध पद्म की कर्णिका में अत्यन्त दीप्त प्रभा मण्डित निष्कलंक पूर्ण चन्द्र मण्डल सदा विराजमान रहता है। यह चन्द्रमण्डल ही अमृत पद अर्थात् निर्वाण का द्वार है। यह निर्वाण पथ साधना के क्रम में साधक के चित्त में स्वतः प्रकाशित होता है। ग्रन्थकार के अनुसार जो साधक विशुद्ध पद्मगत इस चन्द्रमंडल में नित्य ध्यान करता है, वह साधक रुद्र के समान सर्वदर्शी और सकल विश्व का कर्त्ताधर्त्ता और संहर्त्ता हो जाता है।

आज्ञा चक्र

विशुद्ध चक्र से ऊपर भ्रूमध्य में आज्ञा पद्म का स्थान है। आज्ञा-पद्म दो पत्रों वाला है जिनमें हं और क्षं बीजाक्षर अंकित है। इस पद्म

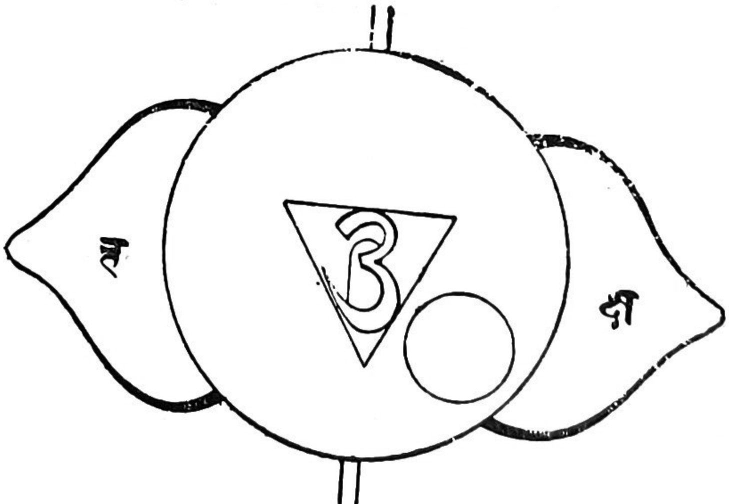

Ajna c[illegible] a between the eyebrows

की ललाट सदृश कर्णिका में चन्द्र के समान उज्ज्वल हाकिनी नामक अधिष्ठातृ देवता विद्यमान रहता है। छः मुखों वाली शुभ्र वस्त्रों से अलंकृत रत्नों से समुज्ज्वल अति दीप्त स्वरूप वाली इस हाकिनी को

योगमाता कहा जाता है। इस योगमाता के चारों हाथों में क्रमश: ज्ञानमुद्रा कपाल अक्षमाला और डमरू विद्यमान है।

इस पद्म के मध्य में निर्वात दीप कलिका के समान मनोलिङ्ग है, अर्थात् मन का निवास स्थान ज्योतिर्लिङ्ग है। इसके मध्य वेदों का आदि बीज प्रणव अर्थात् 'ॐकार' अंकित है। इस ज्योतिर्लिङ्ग को कालजयी होने के कारण **इतरलिङ्ग** या **इतरबीज** भी कहते हैं। इसकी कान्ति विद्युत की भांति अद्भुत दीप्तिमान् है। ग्रन्थकार के अनुसार इस पद्म के ध्यान की विशेष विधि है, जिसे गुरुमुख से ही जाना जा सकता है, अत: गुरुमुख से सम्पूर्ण विधि को जानकर ही **आज्ञापद्म** पर ध्यान साधना में प्रवृत्त होना चाहिए, अन्यथा नहीं।

ग्रन्थकार के अनुसार इस चक्र में विधिपूर्वक ध्यान करने से साधक योगी राजाओं का भी पूज्य, बृहस्पति के समान समस्त शास्त्रों का वक्ता तथा तीनों लोकों के निर्माण एवं शासन करने में समर्थ हो जाता है। इतना ही नहीं उसे योग साधना में पूर्ण सफलता, इस पद्म में ध्यान करने से ही मिल पाती है, और योग में सिद्धि मिलने से बह काव्य रचना की शक्ति सहज ही प्राप्त कर लेता है। लोक लोकान्तर में गमन-आगमन भी उसके लिए निर्बाध हो जाता है।

आज्ञापद्म से ऊपर एवं सहस्रार पद्म से नीचे एक अति शुभ्र देदीप्यमान चन्द्रखण्ड है उससे ऊपर एक बिन्दुरूपी मकार है। यह बिन्दु परमेश विष्णु का आवास स्थल है। बिन्दु से ऊपर अमृतरस से आप्लावित **नाद** विद्यमान रहता है। यह नाद ही अतिशय तेज से अवदात **अच्युताक्ष विष्णु** है। जिसका ध्यान करने से साधक ईश्वर भाव को प्राप्त करके स्वयं विष्णु के तुल्य हो जाता है; किन्तु यह विष्णु पद अत्यन्त गुप्त है। योगीजन ही बहुत साधना के बाद कहीं इसे जान पाते हैं। यह पद **पर-तत्त्व रूप** है।

ब्रह्मनाड़ी के अन्तर्गत स्थित इस विष्णु-पद में ध्यान के लिए कोई स्थूल अवलम्ब नहीं रह जाता; इसलिए इस स्थल में ध्यान को योगि परम्परा में **निरालम्बिका मुद्रा** कहते हैं। इस मुद्रा की साधना विधि को गुरुमुख से भली प्रकार जानकर साधना में प्रवृत्त होने पर सर्व प्रथम वह्निकला का साक्षात्कार होता है, उस वह्निकला के अन्तर्गत

पुनः साधक पृथिवी से आकाश पर्यन्त सभी तत्त्वों का साक्षात्कार करता है, उसके अनन्तर उसे बाल सूर्य रूप दिव्य ज्योति के दर्शन होते हैं। तदनन्तर उसी स्थल पर चन्द्र सूर्य मण्डल की समष्टि रूप ज्योति के समान दिव्य ज्योति साधक के समक्ष प्रगट होती है। यह महा तेज ही परम विष्णु का पद है। प्राणायाम और ध्यान की समवेत साधना से जो साधक इस परम ज्योति का साक्षात्कार कर यहां प्राणों को स्थिर कर लेता है, वह परम पद को प्राप्त कर लेता है।

सहस्रार पद्म

सहस्रार पद्म सबसे ऊपर स्थित अन्तिम पद्म है। इसका मध्य-भाग कुङ्कुम पराग के समान आरक्त है। इसमें इसके नीचे स्थित मूलाधार से आज्ञा तक के पचास पद्मपत्रों के बीस गुणित अर्थात

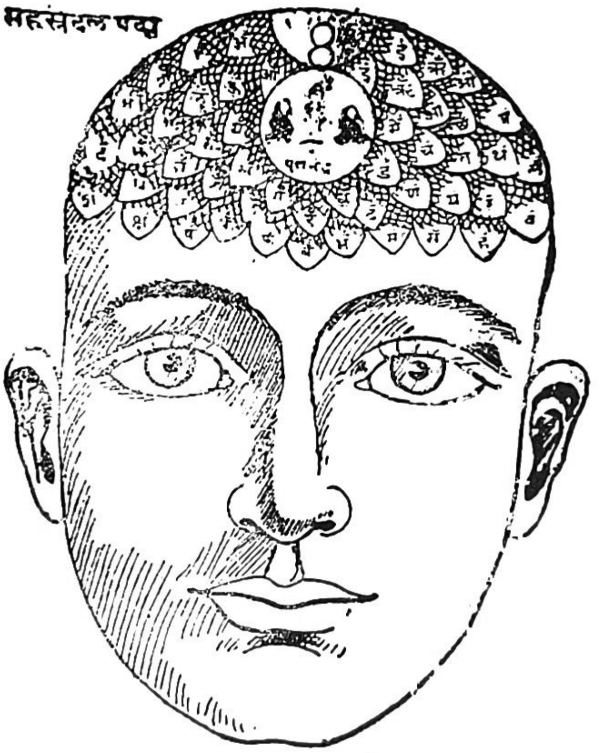

एक सहस्र पत्र हैं; जिनमें पूर्वोक्त पचासों बीजाक्षर अंकित है। इनका वर्ण तुषार की भांति अत्यन्त उज्ज्वल है। ऐसा प्रतीत होता है, मानों कलङ्कहीन सम्पूर्ण चन्द्र हो। इसके अन्दर विद्युत की भांति कान्तिमान त्रिकोण स्वरूप वाला एक कन्द है। सूर्य चन्द्र एवं सूर्य की समष्टि के सदृश उसकी कान्ति है। इस त्रिकोण के ऊर्ध्वकोण पर महेश का

निवास है। ये महेश अज्ञान मोहरूपी अन्धकार को दूर करने वाले हैं।

ग्रन्थकार के अनुसार जो साधक निरालम्बमुद्रा के द्वारा इस परम पद में प्राण और चित्त को स्थिर करते हैं वे निश्चय ही मोक्ष के भागी होते हैं, तथा प्रलय काल में भी उनका विनाश नहीं होता। इस परम पद को शैव लोग **शिव पद**, वैष्णव लोग शाश्वत **विष्णु पद**, अन्य सम्प्रदाय के अनुयायी इस पद को **हरिहर पद**, वेदान्ती साधक इसे **निष्कल ब्रह्म पद**, देवी के भक्त **देवी का पद** और मुनिजन इसे **निर्वाण पद** के नाम से स्मरण करते हैं। तात्पर्य यह है कि अध्यात्म साधना की सभी शाखाओं में अपनी अपनी मान्यता के अनुसार इस पद को सर्वोच्च पद स्वीकार किया जाता है। सभी योगिगण अथवा विविध साधना परम्पराओं के साधक एवं देवगण इस पद को प्राप्त करने के लिए भिन्न भिन्न नामों से इस परम पद **ब्रह्मनिर्वाण पद** का ही ध्यान करते हैं।

बहिर्याग

आचार्य वीरेश्वर ने कुण्डलिनी साधना के प्रसंग में **मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत** (हृत्पद्म), **विशुद्ध, आज्ञा** और **सहस्रार पद्मों** के स्वरूप और उनके ध्यान के सम्बन्ध में निर्देश करने के अनन्तर चतुर्थ तरङ्ग के अन्तर्गत पुराणों में वर्णित तीर्थ स्नान आदि के महत्त्व को ध्यान में रखकर शरीर में ही कुछ तीर्थों की कल्पना करते हुए पूर्व वर्णित ध्यान साधना (लय-योग) को तीर्थ स्नान के रूप में वर्णित किया है। उनके अनुसार हृत्पद्म अर्थात् अनाहत पद्म की कर्णिका रूपी पुष्कर, जहां शिव का निवास है, में ध्यानरूपी स्नान ही पुष्कर तीर्थ का स्नान है। यही ध्यान रूपी स्नान शिव तीर्थ वाराणसी का भी स्नान है। यहां ध्यान रूपी स्नान करने के अनन्तर अन्य गंगा आदि नदियों के तटवर्ती तीर्थों में स्नान की कोई अपेक्षा नहीं रहती।

इसी तरङ्ग में ग्रन्थकार ने 'हुंकार' मन्त्र अर्थात् ॐ हूँ हंसः'' मन्त्र द्वारा कुण्डलिनी को जागृतकर सहस्रार पद्म स्थित शिव पर्यन्त उसे उत्थापित कर संयुक्त करने को ही सन्ध्या कहा है, और स्वीकार किया है कि इस सन्ध्या के बाद कर्म काण्ड में वर्णित अन्य किसी सन्ध्या-

वन्दन की अपेक्षा नहीं रहती, उन्होंने इस सन्ध्या को ही अधिक उत्कृष्ट और सिद्धिदायी स्वीकार किया है।

तन्त्र साधना के ग्रन्थों में अंग न्यास आदि का वर्णन पूजा के अंग के रूप में किया जाता है। आचार्य वीरेश्वर के अनुसार चिद् रूप परम पद ब्रह्म में चित्त को स्थिर करना तथा काम आदि सभी इन्द्रिय धर्मों का एवं क्रियाओं का उस परब्रह्म के प्रति समर्पण करना तथा **निरालम्बिका मुद्रा** द्वारा **परं ब्रह्म निर्वाण पद** में चित्त को लीन कर देना **न्यास** कहलाता है।

वैष्णव साधना परम्परा में अपने आराध्य प्रभु की विविध रूपों में सेवा को कैंकर्य कह कर उसे मोक्ष का, परम पद की प्राप्ति का मुख्य उपाय स्वीकार किया गया है। आचार्य वीरेश्वर कुण्डलिनी को उत्थापित करके हृदय में स्थित जीव के साथ एकीकृत करके चिद्रूप ब्रह्म में लय करने को **नित्य सपर्या** से अभिन्न माना है, यदि उस स्थिति में प्रणवमन्त्र का जप (अजपाजय) किया जा रहा हो।

पूजा आराधना की प्रक्रिया में होम (यज्ञ-याग) का भी विशेष महत्त्व है। ग्रन्थकार ने अग्नि स्थान नाभि चक्र (मणिपूर पद्म) की होम कुण्ड के रूप में कल्पना करते हुए मणिपूर में ध्यान को **होम साधना** के रूप में माना है। चतुर्थ तरङ्ग के उपसंहार के रूप में यह माना गया है कि जो साधक पूर्वोक्त प्रकार से पुष्कर तीर्थ में **स्नान**, सहस्रार में कुण्डलिनी शक्ति के संयोजन रूप **सन्ध्या**, निरालम्बिका मुद्रा द्वारा परब्रह्म निर्वाण पद में चित्त लय रूप **न्यास** परब्रह्म में चित्तलय रूप **नित्य सपर्या** एवं मणिपूर में धर्माधर्म रूप कर्म का अर्पण रूपी **हवन** करता है, वह अपनी समस्त अघराशि को नष्ट करके निर्मल शरीर होकर ब्रह्म एवं देवगुरु बृहस्पति के समान हो जाता है और प्रलय काल में भी उसका विनाश नहीं होता है।

अन्तर्याग

चतुर्थ तरङ्ग में बहिर्याग का विवरण करने के अनन्तर पञ्चम तरङ्ग में ग्रन्थकार ने अन्तर्याग की चर्चा की है। इस दृष्टि से उसने हृदय के समीप सुधापूर्ण चार समुद्रों की और उसके मध्य में मणिद्वीप

की कल्पना की है। इस मणिद्वीप में चारों ओर एक लाख योजन तक स्वर्ण बालुका का विस्तार है, उसमें मनोहर पुष्पराशि से सम्पन्न सुरम्य उद्यान है। जिसमें पुष्पों और फलों से लदे हुए चम्पक कदम्ब लवङ्ग पारिजात आदि के वृक्ष और भौंरों से लदो हुई मल्लिका मालती नाग पुष्प आदि की लताएं हैं। इस उद्यान में कोकिल का पंचम स्वर में गान गूंज रहा है, सुन्दर रङ्गों वाले शुक खञ्जन सारस मयूर आदि पक्षी बिहार कर रहे हैं, मृग मृगेन्द्र आदि पशु अहिंसक बनकर उसमें बिहार करते हैं। इस उद्यान में चारों दिशाओं में चार वापियां हैं, जिनमें हंस चक्रवाक आदि जल पक्षी विहार करते हैं। इसमें दस हजार कोश तक विस्तृत सुरम्य प्रासाद है, जिसके चारों ओर विशाल प्राचीर है। इसके मध्य में मणिमयी सुवर्ण वेदिका है जिसमें पचास वर्णों वाला कल्प वृक्ष विद्यमान है, उसके पार्श्व में शतयोजन विस्तीर्ण यतिवरों से सेवित चन्द्र और सूर्य से शोभित ज्योति मन्दिर है; इसमें साधक कमल पर पूर्वाभिमुख स्थिति में देवता की भावना करे।

साधक को चाहिए कि वह भक्ति पूर्वक आसन पर स्थित ज्योति स्वरूप देवता का आवाहन गुरु निर्दिष्ट विधि से करके प्रसन्न मन से पाद्य अर्घ आदि विविध उपचारों से उसकी पूजा करे। इस पूजा क्रम में चरणों में पाद्य, मौलि पर अर्घ, मुख में आचमनीय एवं मधुपर्क तथा वायु रूप कस्तूरी हरिचन्दन कुसुम माला और अनुलेपन, पांच वायु रूप धूप, चिदग्नि रूप दीप, अनाहत नाद रूपी घंटा, पिष्टक युक्त पायस, शर्करा, मधु सहित दूध विविध फल एवं भूमण्डल में विद्यमान उत्तम विविध पदार्थ नैवेद्य के रूप में सहस्रार से स्रवित होने वाले अमृत से पूर्ण पात्र जल भाण्ड तथा ताम्बूल भक्ति पूर्वक देवता को अर्पित करके आकाश रूपी वस्त्र, सूर्य रूपी दर्पण, पूर्णचन्द्र रूपी छत्र, पद्म निर्मित मेखला माला चन्दन आदि समर्पित करके भक्ति पूर्वक प्रणाम निवेदन करे। तदनन्तर षडङ्ग न्यास करते हुए पूजा करके देवता को स्नान कराये। इसके अनन्तर देवता को उद्वर्त्तन (उबटन) करके डोली में रखकर मण्डप के पश्चिम भाग में ले जाकर आसन पर स्थापित करके स्नान कराये। इसके बाद शरीर प्रोञ्छन, केशों में मनोहर गन्ध, कण्ठ में माला,

कानों पर आकाश तत्त्व से पुष्प, नेत्रों में तेजस्तत्त्व से नेत्राञ्जन, घ्राण में वायु तत्त्व से गन्ध एवं मध्य भाग को विद्या तत्त्व से अलंकृत करके, शिवतारक मन्त्र से मानसर के वस्त्र से प्रोञ्छन करे एवं दोनों पैरों के नीचे अतिशय भक्ति पूर्वक मणिपादुका अर्पित करे। इसके अनन्तर भक्ति सहित देवता को सुवर्णमय वस्त्र, भाल में चन्दन, नयन में कज्जल, कानों में ताटङ्क हाथों में वलय, गले में मनोमयी माला, चरणों में नूपुर, कानों में मौक्तिक अवतंस एवं देवी के भाल में अरुण सिन्दूर, गन्ध, लाल चन्दन, चरणों में अलक्तक, नासिका में गज मुक्ता तथा शिर पर करोड़ों सूर्य चन्द्र एवं विद्युत के प्रकाश से भासित रत्न जटित मुकुट देवता को अर्पित करें। तदनन्तर ओष्ठ में उत्तम अलक्तक, शरीर में आनन्द रूपी गन्ध, वक्ष में दिव्य कंचुकी, पुनः तीव्र सुगन्ध युक्त कुंकुम प्रत्येक हाथ में शंख, दिव्य अस्त्र और निर्धारित भूषण, केयूर तथा मणि किङ्किणी, कटि में क्षुद्र घंटिका, पैरों में नूपुर तथा अन्य भूषण, सभी अंगुलियों में रत्नजटित अंगूठियां अर्पित करके पुनः देवता को दोलिका में स्थापित करके देव कन्याओं एवं अप्सराओं से वहन करा कर पूर्व आसन पर प्रतिष्ठित करे। इस प्रक्रिया में दिव्य चामर द्वारा वीजन की क्रिया भी साथ-साथ होनी चाहिए। ये सभी क्रियाएं मानसिक होंगी।

इस प्रकार पुनः देवता को स्व स्थान पर स्थापित करके दिव्य पुष्प धूप बहुविध फल, अपूर्व नैवेद्य, घृत मधु परम-अन्न आदि मानस रूप से अर्पित करते हुए अन्तर्यजन सम्पन्न करे।

ग्रन्थकार का कहना है कि जो साधक इस प्रकार अरुण कमल पुष्प पद्म-माल्य आदि बहुविध पुष्प फल अपूर्व नैवेद्य आदि अर्पित करता हुआ परम आनन्दपूर्ण चित्त होकर अन्तर्याग करता है, यह योगिराट् शिव की भांति समस्त सिद्धियों का स्वामी होकर समस्त शास्त्रों के रहस्य का ज्ञाता होकर, सरस्वती की भाँति रसमयी कविता का रचयिता होकर सकल लोक पूज्य हो जाता है, साथ ही जन्म मरण के बन्धन से भी मुक्त हो जाता है।

साधक को चाहिए कि पूर्वोक्त प्रकार से अन्तर्याग करके कुण्डलिनी को उत्थापित कर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त लावे तथा पुनः अकार बीज से

पृथिवी बीज लकार पर्यन्त विपरीत जप करे, अर्थात् आरोह क्रम के विपरीत अवरोहण सम्पन्न करे। अथवा ब्रह्मरन्ध्र के अन्दर ही रं वं लं कोण से मण्डित त्रिकोण में कुंडलिनी का ध्यान करके ऊपर संकेतित **ल से अ पर्यन्त** आरोह क्रम से एवं अ से ल तक विपरीत क्रम से जप करके उस परा देवता को मानस नृत्यगीत आदि से सन्तुष्ट करके पूर्व वेदिका पर पुनः लाकर मानस मन्दिर के पूर्व पार्श्व में रत्न पर्यंक पर शयन कराये। उस काल में दिव्य चामर से पवन करता रहे, ताम्बूल अर्पित करे, तथा देव कन्याओं के साथ नृत्यगीत आदि से एवं भावना रूपी पुष्पों से परा देवता कुण्डलिनी की आराधना करे। यहां ग्रन्थकार ने इस परा देवता कुण्डलिनी की मानस पूजा का परिणाम भी पूर्वोक्त मानस पूजा के समान ही वर्णित किया है। एवं अन्तिम अथवा मुख्य फल के रूप में ब्रह्म निर्वाण की प्राप्ति का निर्देश किया है।

आचार्य वीरेश्वर ने पंचम तरङ्ग में सोपचार पूजा के साथ अन्तर्याग का विस्तृत विवरण प्रस्तुत कर षष्ठतरङ्ग में रहस्यमयी सृष्टि प्रक्रिया की ओर संकेत किया है। उनके अनुसार प्रथमतः यह सकल ब्रह्माण्ड मायामय कान्तिमान जल के रूप में था। उसके अन्दर देवाधिदेव महाशिव अति सूक्ष्म तेजोमय लिङ्ग के रूप में विराजमान था, यह ज्योतिर्लिङ्ग शुद्ध ज्ञान प्रकाशस्वरूप शीतल कान्ति वाला है। इस तेजोमय लिङ्ग से अतिशय निर्मल योनिरूपा शक्ति अभिव्यक्त होती है। शक्ति से नाद की तथा नाद से चन्द्र के सदृश कान्ति वाले सदा आनन्ददायी बिन्दु की अभिव्यक्ति होती है। **बिन्दु से पुनः बीज** रूपा शक्ति का आविर्भाव होता है। यह शक्ति **ही नाद-बिन्दु से बीज और लिङ्ग के रूप में प्रकट होती है।**

इसके अनन्तर बिन्दु रूप से रौद्री शक्ति नाद रूप से तमस् से ज्येष्ठा शक्ति तथा रजस् और तमस् से वामा और बीज रूपा शक्ति प्रकट होती है, इन्हें ही इच्छा क्रिया एवं ज्ञान शक्ति कहते हैं। इन शक्तियों से पुनः रुद्र आदि देवों की तथा बिन्दु से शिव की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार ईश आदि सभी देवताओं की उत्पत्ति होती है।

इसके अनन्तर **'पर बिन्दु'** से रवि इन्दु एवं वैश्वानर की उत्पत्ति होती है। यहीं पर आकर कुण्डलिनी के आरोह की पूर्णता होती है,

मानों वह बिन्दु को प्रणाम करने हेतु ही यहां तक उत्थान करती है। यहां से ही शब्द रूप ब्रह्म अर्थात् परावाक् की अभिव्यक्ति होती है। इस शब्द ब्रह्म को ही आदि तत्त्व, महत्तत्त्व चिन्मयतत्त्व आदि नामों से विविध शास्त्रों में स्मरण किया जाता है।

योग रत्नाकर के अन्तिम तरङ्ग में शरीर में विविध स्थानों में स्थित होकर क्रिया शील रहने वाली वायुओं का अत्यन्त संक्षिप्त विवरण दिया गया है। इस विवरण को हम इनका संकेत मात्र कहें तो अधिक उचित है। ग्रन्थकार के अनुसार मानव शरीर का परिमाण उसके अपने हाथ से चार हाथ अर्थात् छियानबे हो अंगुल होता है। शरीर परिमाण के सम्बन्ध में स्मरणीय है कि सामान्यतया प्रत्येक मनुष्य की लम्बाई उसके अपने हाथ से साढे तीन हाथ अर्थात् चौरासी अंगुल होती है। इस शरीर विस्तार के अन्तर्गत वितस्ति परिमाण अर्थात् बारह अंगुल परिमाण वाला जीव निवास करता है। इस शरीर में भिन्न-भिन्न स्थानों पर पांच वायु रहते हैं। इन वायुओं में प्राणवायु हृदय पर्यन्त अपान वायु गुदा से ऊपर, समान वायु नाभिमूल में, उदान कण्ठ प्रदेश में तथा व्यान वायु सर्वत्र शरीर में व्यापक होकर रहता है।

इन पांच वायुओं के अतिरिक्त नाग आदि पांच अन्य वायु (प्राण) भी शरीर में रहते हैं। इनमें नाग वायु का कार्य उगलना, कूर्म का पलकों के उठने और गिरने का नियमन, कृक, जिसे कृकर के नाम से अधिक जाना जाता है, भूख का नियमन, देवदत्त जम्भाई लेने का कार्य तथा धनञ्जय समस्त नाडी मार्ग में रक्त संचालन का कार्य करता है। विविध जन्तुओं के अथवा मनुष्यों के शरीर में इन दस प्राणों के साथ शरीर में जीव निवास करता है।

दस प्राणों का विवरण देने के अनन्तर ग्रन्थकार ने नाद साधना की विधि का विवरण निबद्ध किया है। उसके अनुसार साधक को चाहिए कि पूर्ववर्णित आसनों में से किसी एक आसन में बैठक पूरक करके कुम्भक करते हुए दोनों अंगूठों से दोनों कानों को, तर्जनी अंगुलियों से दोनों नेत्रों को, मध्यमा अंगुली से दोनों नासिका छिद्रों को बन्द करके विकार रहित चित्त से प्राण वायु एवं जीव को हृत्पद्म में एकाग्र करके हंस मन्त्र का जप करके ध्यान करे। ऐसा करने पर

अनाहत नाद प्रकट होता है। उस स्थिति में सर्व प्रथम मत्त भौंरों की गुञ्जार सी ध्वनि सुनाई पड़ती है, उसके बाद वंशी ध्वनि, तदनन्तर कांस्य घंटा ध्वनि तथा अन्त में मेघ गर्जन की ध्वनि सुनाई पड़ती है। इस अनाहत नाद में चित्त को एकाग्र करने से साधक विश्व प्रपञ्च से निर्लिप्त होकर सभी पापों से रहित हो जाता है, और उसे न रोग होते हैं, न मृत्यु का भय होता है, बल्कि वह ब्रह्म ज्ञान से युक्त होकर मोक्ष का अधिकारी हो जाता है।

ग्रन्थकार के अनुसार इस साधना के क्रम में बहुत सावधानी करनी होती है, क्योंकि यह साधना सामान्यतः पूर्णिमा से प्रारम्भ की जाती है। साधना प्रारम्भ करने पर ऐसी स्थिति आती है कि पूर्णिमा से प्रारम्भ करके तीन दिनों तक निरन्तर दाहिने नासिका से श्वास प्रश्वास चलता है, उसके बाद तीन दिन वाम नासापुट से श्वास चलता है, यह परिवर्त्तन क्रम महीने भर चलता है। किन्तु कुछ अनियमितता करने पर यह क्रम ठीक से न चलकर बदल जाता है, अथवा पक्षभर एक नासिका पुट से ही श्वास-प्रश्वास चलता रहता है, ऐसी स्थिति में शरीर में अनेक रोग उत्पन्न होने लगते हैं, और यदि कदाचित् तीन पक्ष तक एक नासिका से ही श्वास प्रश्वास चलता रहा तो साधक की मृत्यु भी हो जाती है। कोई उसकी रक्षा नहीं कर पाता, स्वयं भूतनाथ शिव भी नहीं।

किन्तु इस भय से बचने का एक उपाय है; वह यह कि पूरक करते समय सुषुम्णा में प्राणों को ले जाकर सुषुम्णा मार्ग में ही कुम्भक करे। और उससे ही रेचन करके पुनः कुम्भक करे। सुषुम्णा में वायु की गति दोनों नासिकापुटों से क्रमशः बदल बदल कर रेचक और पूरक करने से हो जाती है। और ऐसा हो जाने पर अर्थात् सुषुम्णा में प्राणु वायु के प्रवाहित होने पर प्राणायाम की साधना करने पर और उस स्थिति में ध्यान के स्थिर हो जाने पर साधक को रोग एवं मृत्यु का भय नहीं रह जाता तथा वह महादेव के समान त्रिलोक-पूज्य हो जाता है।

खेचरी मुद्रा

ग्रन्थ की समाप्ति के पूर्व मुख्यतया प्रतिपादित लय योग साधना तथा उसकी सहायक प्राणायाम साधना के अतिरिक्त ग्रन्थकार ने

सिद्धि के उपाय के रूप में खेचरी मुद्रा की ओर भी संकेत किया है। इस खेचरी मुद्रा में जिह्वा को उलट कर तालुमूल में प्रवेश कराया जाता है और उसमें सिद्धि प्राप्त होने पर ब्रह्मरन्ध्र से स्रवित होने वाले अमृत रस का पान करके साधक अमरत्व को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ में मुख्य रूप से लय योग साधना के क्रम में मूलाधार स्वाधिष्ठान मणिपूर अनाहत विशुद्ध आज्ञा और सहस्रार पद्मों में चित्त की एकाग्रता का अभ्यास करते हुए उन-उन स्थलों में चित्त के लय का अभ्यास किया जाता है। यह लययोग साधना न केवल साधक को विविध लौकिक सिद्धियां प्रदान करती हैं, बल्कि रोग जरा तथा मृत्यु के भय से भी मुक्ति देकर निर्वाण प्रदान करती है। यह ही इस ग्रन्थ का प्रधान प्रतिपाद्य है।

योगरत्नाकर

प्रथमतरङ्ग

यद् ब्रह्म वेदा: प्रवदन्ति सन्तः
चैतन्यशब्दात्मकमव्ययं यत्।
योगीन्द्रवृन्दैः परमात्मतेजो
ध्यात: सदाव्यादनिशं परं नः ॥१॥

वेद और साधक सन्तगण, जिस ब्रह्म को चिन्मय शब्दात्मक और अव्यय कहते हैं, तथा योगीश्वर जिसका ध्यान परमात्म तेजस् के रूप में करते हैं; वह परम ब्रह्म परमेश्वर निरन्तर हमारी रक्षा करे।

आनन्दोल्लासकन्दोपरिपरिलसद् ब्रह्म पद्मान्तरस्थम्,
नित्यं चैतन्यरूपं वरद-भयहरं तत्त्वविद्यात्मयुक्तम्।
शान्तं पूर्णेन्दुकुन्दोज्ज्वलविमलवपुर्विश्वनाथं भजेऽहम्,
विज्ञानध्वान्तहंसं सकल सुरगुणै योगिभिर्वन्द्यमेकम् ॥२॥

समस्त देवगणों एवं योगिजनों के द्वारा एक मात्र वन्दनीय, आनन्दोल्लास कन्द अर्थात् स्वाधिष्ठान चक्र से ऊपर विराजमान ब्रह्मकमल के अन्तर में स्थित, नित्य चैतन्यस्वरूप, वर प्रदान करने वाले, सर्वविध भय को हरने वाले, तत्त्व विद्या स्वरूप आत्म विज्ञान से युक्त, परम शान्त, पूर्णिमा चन्द्र एवं कुन्द के सदृश उज्ज्वल कान्ति युक्त शरीर वाले विज्ञान और ध्वान्त अर्थात् विद्या और अविद्या के विवेक में नीर क्षीर विवेकी हंस के सदृश विश्वनाथ की मैं वन्दना करता हूँ।

वदाम्यहं योगमलंघ्यमच्युतम्,
यतो भवेत् शाश्वतमव्ययं स्वयम्।
अभ्यासतो ब्रह्मनिरूपणात्मकम्,
संसारसिन्धोस्तरणैककारणम् ॥३॥

ब्रह्म का साक्षात्कार करानेवाली, संसाररूपी समुद्र से पार कराने वाली समस्त विद्याओं में उत्तम, सार्वकालिक सिद्धि प्रदान करने वाली, जिसका अभ्यास करके साधक शाश्वत और अविनश्वर पद को स्वयं प्राप्त कर लेता है, उस योग विद्या का उपदेश प्रस्तुत ग्रन्थ में मैं (वीरेश्वरानन्द) कर रहा हूँ।

सारं संगृह्य तन्त्राणां वेदानाम्मतमव्ययम् ।
योगिनां परहंसानां सिद्धानां विदुषां सताम् ॥४॥
श्रीमद्वीरेश्वरानन्दस्तनोति ज्ञानसिद्धये ।
योगरत्नाकरं ग्रन्थं क्रमशो मोक्षहेतवे ॥५॥

मैं वीरेश्वरानन्द तन्त्र ग्रन्थों का सार संग्रह करके, परमहंस सिद्धयोगियों एवं तत्त्वदर्शी विद्वानों के सिद्धान्तों को एकत्र करके ज्ञान की सिद्धि एवं क्रमशः मोक्ष की प्राप्ति के लिए योगरत्नाकर नामक ग्रन्थ की रचना कर रहा हूँ।

अथादौ लक्षणं ह्यत्र मुनीनां कथ्यते क्रमात् ।
शान्तो धीरः क्षमायुक्तो दयावान्धारणाक्षमः ॥६॥
ब्रह्मचारी चेन्द्रियाणां कृतनिग्रह आत्मवित् ।
मौनी भोगपरित्यागी विषवद् विषयाच्च्युतः ॥७॥
क्षाराम्ललवणत्यागी जिह्वारसविवर्जितः ।
लघ्वाहारी शान्तचेता क्षीरभोजनमाचरेत् ॥८॥

ग्रन्थारम्भ में सर्वप्रथम क्रम प्राप्त मुनि अर्थात् साधक का लक्षण कहा जा रहा है—'साधक और साधना करने का इच्छुक व्यक्ति शरीर और मन से शान्त धैर्यशाली, क्षमाशील, दयालु, धारणा करने अर्थात् चित्त को सुस्थिर करने में सक्षम, ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करने वाला, इन्द्रियों को वश में रखने वाला, आत्मतत्त्व को जानने वाला अथवा उसके लिए तीव्र जिज्ञासा से युक्त, मौनव्रती, भोगों की कामना का भी परित्याग करने वाला, विषयों को विष मानकर उनका परित्याग करने वाला, क्षार अम्ल (खट्टा) और लवण की कामना भी न करने वाला, जिह्वा के स्वाद से पूर्णतया रहित सुपाच्य एवं थोड़ा आहार ग्रहण करने वाला शान्तचित्त रहने वाला होता है। साधक को चाहिए कि वह साधना के दिनों में भोजन के रूप में केवल दूध को ग्रहण करे।

शनैः शनै पिबेत् क्षीरमथवा घृतमल्पकम् ।
तदा सिद्धो भवेद्योगी चान्यथा सिद्धरेव न ।।६।।

साधक को चाहिए कि वह साधना काल में थोड़ा-थोड़ा दूध का आहार ग्रहण करे अथवा थोड़ा घृत आहार के रूप में ग्रहण करे। आहार सम्बन्धी यह नियम अपनाने से साधना में शीघ्र सफलता मिलती है। नियम पालन न करने पर कभी सिद्धि मिलती ही नहीं।

आरम्भे च शनैः शनैर्निगदितं वायुं परं पूरकम्,
कृत्वा तं परिकुम्भयेदनु शनैः संरेचयेत्स्वल्पतः।
कुर्यान्मारुतधारणं यतमना देहो भवेन्नो यथा,
रोगस्यापि निकेतनं प्रथमतो ज्ञात्वा हि वायोर्गतिम् ।।१०।।

प्राणायाम साधना को क्रमशः धीरे-धीरे करना चाहिए, कभी भी शीघ्रता करने की अपेक्षा नहीं है, ऐसा सिद्धयोगियों का कथन है। इसमें सर्व प्रथम प्राण वायु का शनैः शनैः पूरक करे अर्थात् प्राण वायु को अन्दर की ओर खीचे और कुम्भक करे अर्थात् उसे अन्दर ही रोके। निश्चित अवधि तक कुम्भक करने के बाद धीरे-धीरे रेचक क्रिया करे अर्थात् अन्दर लिये हुए प्राणवायु को बाहर निकाले। वायु के धारण करने अर्थात् कुम्भक करने के प्रसङ्ग में संयत मन वाला रहते हुए यह ध्यान रखे कि शरीर रोग का आगार न बने, इसके लिए वायु की गति को प्रथमतः जानकर साधना में प्रवृत्त रहे।

वातः पित्तकफौ च दन्तशिरसां पोडा च संजायते,
श्वासोच्छ्वासविकासकासरुधिरोत्सर्गादिकं जायते।
वायोः स्वैरगतैः[1] क्रमेण वपुषां वाय्वादिरोगो भवेत्,
तस्माद् यत्नपरो भवेद् यतमना ज्ञात्वा हि वक्त्राद् गुरोः ।।११।।

योगसाधना मुख्यतः प्राणायाम साधना के क्रम में व्यतिक्रम होने अथवा धैर्यरहित होकर शीघ्रता करने से वात पित्त और कफ इन दोषों (धातुओं) में विकार उत्पन्न होकर दांत में पीड़ा होने लगती है, शिरोरोग, श्वास रोग, श्वासोच्छवास का बढ़ जाना, खांसी, रुधिर-वमन आदि अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। वायु साधना अर्थात् प्राणायाम में मनमानी करने से धीरे-धीरे शरीर में अनेक वायुरोग

उत्पन्न हो जाते हैं; अतः साधक को चाहिए कि साधना विधि को गुरु मुख से सीखकर यत्नपूर्वक एकाग्रचित होकर साधना करे, मनमानी न करे।

तस्मादेव गुरोर्मुखात्खलु महान् ज्ञात्वा तु भक्त्या विधिम्,
स्वल्पैरेवमहर्निशं प्रतिदिनं वायोर्गतिं चाभ्यसेत्।
मात्राबुद्ध्यनुसंक्रमात् सुहृदयः[1] सम्पूरयेन्मारुतम्,
श्वासोच्छ्वासविभागसूक्ष्मविधिना संकुम्भयेद्[2] रेचयेत् ॥१२॥

साधना के क्रम में होने वाले इन उपद्रवों को ध्यान में रखकर साधक भक्तिपूर्वक गुरु मुख से साधना विधि को जानकर धीरे-धीरे अर्थात् वेग युक्त न होकर विधिपूर्वक वायु की गति का अर्थात् रेचक, पूरक और कुम्भक क्रियाओं का दिन और रात्रि दोनों में अर्थात् विधि के अनुसार चारों काल में (प्रातः मध्याह्न सायं एवं मध्यरात्रि में) अभ्यास करे। इस साधना में साधक को ध्यान रखना चाहिए कि पूरक कुम्भक एवं रेचक की मात्राओं का अनुपात ठीक बना रहे, निधारित मात्राओं के अनुसार तथा श्वास प्रश्वास की गति का ध्यान रखते हुए पूरक करके, कुम्भक करे एवं रेचक करे। स्मरणीय है कि पूरक कुम्भक और रेचक का अनुपात १ : ४ : २ का है। अर्थात् पूरक करने में सोलह मात्रा काल कुम्भक में चौंसठ मात्रा काल एवं रेचक में बत्तीस मात्रा काल प्रशस्त माना जाता है। यह भी स्मरणीय है कि श्वास प्रश्वास काल में वायुवेग इतना स्वल्प होना चाहिए कि नाक के निकट रखी हुई रुई में भी कम्पन न हो। इसके अतिरिक्त प्राणायाम का उत्तम मध्यम अधम रूप में विभाजन भी कालमात्रा के अनुसार किया जाता है इसके अनुसार प्राणायाम में १६ : ६४ : ३२ का अनुपात अर्थात् यदि पूरक में १६ मात्रा काल कुम्भक में ६४ मात्रा काल एवं रेचक में ३२ मात्रा काल लगता है तो उस प्राणायाम की उत्तम स्थिति, १२ : ४८ : २४ का अनुपात होने पर अर्थात् पूरक कुम्भक एवं रेचक का काल १२, ४८ एवं २४ कालमात्रा होने पर मध्यम स्थिति, तथा ८ : ३२ : १६ का अनुपात रहने पर अर्थात् पूरक कुम्भक एवं रेचक की कालमात्रा ८ : ३२ : १६ होने पर प्राणायाम की अधम स्थिति मानी जाती है।

जप्त्वा षोडशसंख्यकं परमनुं वेदादिबीजं बुधः,
सम्पूर्यानिलमग्रतः शशिपथे तद्वेदसंख्यात्मकम्।
सौषुम्णान्तरकुम्भकं क्रमवशान्मार्त्तण्डके रेचयेद्,
द्वात्रिंशत्परिमाणमेतदमलं कृत्वा वपुः शोधयेत्॥११॥

बुद्धिमान् साधक को चाहिए कि वह वेदों के आदि बीज सर्वोत्कृष्ट मनु अर्थात् मन्त्र (प्रणवमन्त्र) ओङ्कार का सोलह बार जप करते हुए शशि पथ अर्थात् इडा नामक वाम नासिका रन्ध्र से प्राणवायु को अन्दर लेते हुए पूरक क्रिया को सम्पन्न करे, उसके अनन्तर उक्त संख्या सोलह का चतुर्गुण अर्थात् चौंसठ बार प्रणव मन्त्र का जप करते हुए सुषुम्ना नाड़ी के अन्दर कुम्भक करे, तदनन्तर बत्तीस बार प्रणव मन्त्र का जप करते हुए सूर्य नाड़ी पिङ्गला से अर्थात् दक्षिण नासिका रन्ध्र से वायु का रेचन करे। इस काल के अनुपात में उक्त प्रकार से प्राणायाम करने से साधक के शरीर की, शरीरस्थ नाड़ी तन्त्र की शुद्धि हो जाती है और वह पूर्णतया निर्मल हो जाता है।

एवं व्युत्क्रमयोगतो मुनिवरः सम्पूरयेद् दक्षिणे,
वायुं तं परिकुम्भयेद्यतमना संरेचयेद् वामके।
वामे तं परिपूरयेत्खलु पुनर्देहान्तरे मारुतम्,
कृत्वा कुम्भकमल्पतः स्थिरमना संरेचयेद् दक्षिणे॥१४॥

उपर्युक्त वर्णित प्राणायाम साधना क्रम के विपरीत क्रम से पुनः पूरक आदि करे, अर्थात् प्रथम दक्षिण नासिकारन्ध्र पिङ्गला नाड़ी से पूरक करके कुम्भक करे और उसके बाद वाम नासिका रन्ध्र इड़ा नाड़ी से रेचक करे। इस प्रकार एक क्रम पूर्ण करके पुनः बायीं नासिका से पूरक करके शरीर के अन्दर वायु को रोके तथा चित्त को एकाग्र रखते हुए कुम्भक करने के बाद दक्षिण नासिका से रेचक क्रिया करे। इस प्रकार एक बार वाम नासिका से पूरक करके दक्षिण से रेचन करे एवं पुनः दक्षिण से पूरक करके वाम नासिका से रेचक करे। इस प्रकार जिस नासिका से रेचक करे पुनः बाद में उससे ही पूरक करे और जिससे पूरक किया है, उससे भिन्न से रेचक करे।

प्राणायाममिमं शुभं समुदितं कृत्वा भवेत् शंकरः
पापं कायिकवाचिकं च मनसा जातं प्रगृह्यार्जितम्।
भूयो यः कुरुते गुरोः मुखवरात् लब्धं मनुं शाश्वतम्
जप्त्वा ध्यानरतेन भूरि विधिना प्रोक्तः सगर्भो हि सः ॥१५॥

उपर्युक्त प्रकार से विधिपूर्वक प्राणायाम की साधना करके साधक शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त करके शंकर स्वरूप हो जाता है। इस साधना के क्रम में सर्वप्रथम साधक के कायिक वाचिक और मानसिक तीन प्रकार के प्रारब्ध और संचित पाप क्षीण हो जाते हैं और वह निर्मल भाव को प्राप्त कर लेता है। किन्तु इसके लिए उसे निरन्तर साधना में व्यापृत रहना चाहिए, साथ ही गुरुमुख से प्राप्त स्थिर (शाश्वत) मन्त्र अर्थात् प्रणव मन्त्र का जप पूर्ण साधना काल में करना चाहिए और जप के साथ हो अर्थ की भावना के साथ ध्यान के लिए, चित्त की एकाग्रता के लिए, भी साधना करनी चाहिए।

साधना की परम्परा में प्रणवजप एवं ध्यानयुक्त इस प्राणायाम को **सगर्भ प्राणायाम** कहते हैं।

निगर्भस्तन्मन्त्रानिलसहित एव प्रभवति,
विना ध्यानेनैवं क्रियत इति येनात्मविधिना।
अयं प्राणायामो वचनकृतपापं दहति च,
कृते भूयो भूयो दहति किल देहावृतमलम् ॥१६॥

निगर्भ प्राणायाम में मन्त्र जप एवं प्राणायाम तो किया जाता है, किन्तु ध्यान की साधना इसमें सम्मिलित नहीं रहती, शेष अन्य विधियां समान हो रहती हैं। प्राणायाम के साथ ध्यान का सहभाव न होने से इसे निगर्भ प्राणायाम कहते हैं। इस प्राणायाम के अभ्यास से वाचिक पाप नष्ट होते हैं, तथा बारम्बार अभ्यास से कायिक मल का भी विनाश हो जाता है।

प्राणायाममतो यतिः खलु महान् योगीश्वरः सः स्वयम्,
निर्धौताघविकारनिर्मलवपुः देवो भवेद् भूतले।
सोऽरोगी क्षितिमण्डले क्षितिपतेः पूज्यो जगत्पालकः
कान्तालि कमलेक्षणोन्नतकुचां सम्मोहयेद्योगवित् ॥१७॥

प्राणायाम की साधना में लगा हुआ यति स्वयं महान् योगीश्वर हो जाता है, उसके समस्त पाप (अघ) विकार नष्ट हो जाते हैं एवं उसका शरीर निर्मल हो जाता है और वह पृथिवी पर रहते हुए भी देवस्वरूप हो जाता है। उसका शरीर समस्त रोगों से मुक्त हो जाता है, क्षितिपति (राजा) भी उसकी पूजा करते हैं। वह अपनी कामना-मात्र से जगत् के पालन में समर्थ हो जाता है। उस योगी का शरीर इतना सुन्दर हो जाता है, कि कमलनयनी उन्नत कुचों वाली कामा-नियां उस पर मोहित रहती हैं।

योगीशः प्रभुरेव सिद्धिमतुलां लब्ध्वा सुधन्यो भवेत्,
भूतानामधिदैवतः खलु पुनः मन्त्रश्च सिद्धो भवेत्।
तस्यानन्दवपु र्भवेदमलकं कन्दर्पतुल्यो महान्,
प्राणायाममिमं करोति कुशलः शास्त्रार्थवेत्ता च सः॥१८॥

जो साधक इस प्राणायाम को विधिपूर्वक करता है, वह योगिराज सभी कुछ करने में समर्थ (प्रभु) और अतुल सिद्धियों का अधिष्ठाता होकर अत्यन्त धन्य हो जाता है। वह पृथिवी जल आदि पांच महाभूतों का अधिदेवता हो जाता है। मंत्रसिद्धि उसे स्वतः प्राप्त हो जाती है, उसका शरीर आनन्दमय हो जाता, तथा निर्मल होने से कामदेव के सदृश सुन्दरता उसमें आ जाती है। वह समस्त क्रियाओं में कुशल एवं विविध शास्त्रों का वेत्ता हो जाता है।

इति श्रीहरिहरानन्दब्रह्मचार्यग्रणी परमहंस श्रीचरण सरोज-शिष्य श्रीवीरेश्वरानन्दब्रह्मचारिरचिते योगरत्नाकरे प्रथमस्तरङ्गः।

परम ब्रह्मचारी परमहंस श्री हरिहरानन्द स्वामि के चरण कमलों के शिष्य वीरेश्वरानन्दब्रह्मचारि रचित योगरत्नाकर में प्रथम तरङ्ग पूर्ण हुआ और उस पर 'प्रणव' इस द्वितीय नाम से प्रसिद्ध स्वामी अनन्त भारती कृत योगरत्नाकर दीपिका सम्पन्न हुई।

द्वितीयतरङ्ग

अथासनं तत्क्रमशोऽभिधास्ये भद्रासनं स्वस्तिकमासनं च।
वज्रासनं वै कमलासनं च वीरासनं यद् रघुनाथजुष्टम् ॥१॥

अग्रिम पद्यों में आसनों का परिचय दिया जा रहा है। इनमें क्रमशः भद्रासन स्वस्तिकासन वज्रासन कमलासन (पद्मासन) एवं रघुनाथ द्वारा प्रयुक्त वीरासन का वर्णन किया जा रहा है।

पार्श्वद्वये गुल्फयुगं निधाय पार्श्वांघ्रियुग्मं परिबद्धयेच्च।
द्वाभ्यां कराभ्यां वृषणाध एतत् भद्रासनं साधकसाध्यमुत्तमम्॥२॥

पैर के दोनों पञ्जों को आमने सामने रखकर दोनों घुटनों को बगल में इस प्रकार रखे कि घुटने सहित सम्पूर्ण पैर भूमि से स्पर्श करते रहें। इसके अनन्तर दोनों पैरों को दोनों हाथों से पकड़कर खींचते हुए लिङ्ग के नीचे ले आये। साधकों द्वारा साध्य इस आसन को **भद्रासन** कहते हैं। इस आसन का अन्य नाम **गोरक्षासन** भी है।

जानूर्वोरन्तराले पदयुगलमिदं स्वस्तिकाख्यं तदेव,
न्यस्योर्वोः पादयुग्मे नियतयतमना अङ्गुलीश्च प्रतीचीः।
हस्तौ दद्याच्च वज्रासनमिदमुदितं योगिभिर्न्यस्य पादम्
वामोरौ चेतरं स्यात्तलगतमुदितं वीरपूर्वासनं हि ॥३॥

दोनों ही पैरों को दोनों जंघा और पिण्डलियों के बीच में करके बैठे इस स्थिति को **स्वस्तिक-आसन** कहते हैं।

दोनों जंघाओं को दोनों पैरों के ऊपर करके एकाग्र मन होकर बैठे तथा अंगुलियों को नीचे की ओर मोड़ते हुए घुटनों पर दोनों हाथों को रखे। इसे योगिजन **वज्रासन** कहते हैं।

बायें जंघा के पास दाहिने पैर के तलवे को रखते हुए स्थिर चित्त होकर बैठना इस स्थिति को **वीर-आसन** कहते हैं।

वामोरूपरि दक्षिणांघ्रिमिलनं वामं तथा चेतरे
चाङ्गुष्ठौ च निबद्धयेत्करयुगेनाकृष्य पृष्ठे ततः
हृन्मध्ये विनिधाय नम्रचिबुकं नासाग्रमालोकयेत्
एतत्पंकजमासनं निगदितं रोगादिसंघातकम् ॥४॥

बायी जंघा पर दाहिने पैर को एवं दाहिनी जंघा पर बांये पैर को इस प्रकार रखे कि वे उसमें मिल जाएं। दोनों हाथों को पीछे से लाकर दोनों पैरों को दाहिनी ओर बाएं पैर के अंगूठे को बाएं हाथ से तथा बायीं ओर दाहिने पैर के अंगूठे को दाहिने हाथ से पकड़कर कमर से सिर तक एक सीध में रख करके गर्दन को कुछ झुकाकर चिवुक (ठुड्ढ़ी) को हृदय मध्य में लगाए तथा नासाग्र पर दृष्टि को एकाग्र करे। इसे कमलासन या पद्मासन कहते हैं। इसके अभ्यास से सभी रोग नष्ट हो जाते हैं। वर्त्तमान परम्परा में इसे **बद्ध पद्मासन** कहते हैं। यदि हाथों को पीठ पीछे न ले जाकर अलग-अलग दोनों घुटनों पर अथवा हथेली को ऊपर की ओर किये हुए बायें हाथ के कर पृष्ठ को दाहिनी हथेली पर अथवा दाहिने हाथ के कर पृष्ठ को बायीं हथेली पर करके नाभि के पास दोनों एड़ियों पर रखे, तो यह स्थिति शुद्ध पद्मासन की है।

एषामन्यतमं सदा बुधवरो बध्वा हि योगासनम्
वायुं तं विनिधाय योगिविपिने योगीश्वरो वै तनौ
कृष्णत्वच्यपि वासने कुशमये शार्दूलचर्मण्यपि
भूत्वा पूर्वमुखोऽथवा धनपतेरास्यो विशेत् सिद्धये ॥५॥

इन उपर्युक्त आसनों में से किसी भी एक योगासन को बांधकर अर्थात् किसी भी एक आसन में योग अभ्यास के लिए बैठे। इसके लिए कृष्ण मृग के चर्म पर, कुश आसन पर अथवा व्याघ्र चर्म पर पूर्वाभिमुख अथवा धनपति कुबेर की दिशा अर्थात् उत्तर दिशा की ओर मुख करके सिद्धि प्राप्त करने हेतु साधना के लिए बैठे तथा वायु को स्थिर करके सिद्धि प्राप्त करे। इस साधना से वह योगिजनों में श्रेष्ठता अर्थात् योगीश्वरभाव प्राप्त कर लेता है।

आदौ भूमि विशोधनं स्वविधिना विघ्नान्समुत्सारयेत्
दत्वा तालधनंजयं करयुगेनोर्ध्वे पुनश्छोटिका।
क्षिप्त्वा दिक् परिबन्धनं गुरुमुखाज्ज्ञात्वा मनुं तन्मतम्
पश्चाद्वासनशोधनं प्रथमतः कृत्वा विशेत् सिद्धये॥६॥

योगासन के लिए आसन पर बैठने से पूर्व भूमि शुद्धि अपनी कुल परम्परा अथवा गुरु परम्परा में प्रचलित विधि के अनुसार अथवा जहां साधना प्रारम्भ की जा रही है, वहां की आवश्यक एवं योग्यता के अनुसार करके दोनों हाथों से धनञ्जय ताल एवं पुनः ऊपर चुटकी बजाते हुए विघ्नों की निवृत्ति करे। तदनन्तर गुरुमुख से निर्दिष्ट मन्त्र के द्वारा दिग्बन्ध अङ्गन्यास आदि करके पहले आसन शुद्धि करे और उसके बाद सिद्धिलाभ के लिए साधना के लिए बैठे।

नत्वा श्रीगुरुदेवताङ्घ्रि युगलं योगी गणेशं पुनः,
क्षेत्रेशं वटुकं च योगजननीं भक्त्येष्टदेवं पुनः।
धीरो ध्यानपरायणः प्रथमतो मूलादि निर्वाणतो,
ध्यायेन्निर्मलचेतसा यतिवरो बध्वा स्थिरं[1] मारुतम्॥७॥

सर्व प्रथम गुरु और देवता के चरण कमलों में साधक योगी प्रणाम करे तदनन्तर सिद्धिदाता गणेश को, क्षेत्रपति वटुक भैरव को, योगमाता महाशक्ति भवानी को प्रणाम करके पुनः इष्टदेवता को प्रणाम करे। तदनन्तर वह साधक कुम्भक करके ध्यानमग्न होकर मूलाधार से निर्वाण चक्र (सहस्रार) पर्यन्त चक्रों और उनके अधिष्ठातृ देवताओं का निर्मल चित्त से ध्यान करे।

अथातो गुदान्मस्तकान्तं प्रशस्तं
समुद्भासितं मेरुदण्डं सुकाण्डम्।
सुवर्णोज्वलं देववृन्दानि सन्ति
परं चिन्तयेद् यत्र मेरोश्च तत्त्वम्॥८॥

इसके अनन्तर गुदा अर्थात् मूलाधार चक्र से लेकर मस्तक पर्यन्त

---

१. स्थितं क

अर्थात् सहस्रार चक्र पर्यन्त विस्तृत स्वर्णाभा से देदीप्यमान सुव्यवस्थित काण्डयुक्त स्व स्व स्थान पर स्थित देवगणों सहित मेरुदण्ड का और मेरु के परम तत्त्व शिव का ध्यान करे। (मेरुदण्ड में विविधस्थलों पर स्थित देवताओं का वर्णन चक्रों के प्रसङ्ग में आगे के पद्यों में द्रष्टव्य है)।

[पद्मों (चक्रों) के स्थान]

गुदोर्ध्वं ध्वजाधोऽन्तरे दिव्यकन्दं,
समास्ते मितं वेदसंख्याङ्गुलीभिः।
समन्तात्तदर्धं समुत्सेधमन्तः
समास्तेऽर्कपत्रं सरोजं प्रफुल्लम् ।।९।।

गुदा से ऊपर लिङ्ग से नीचे दोनों के मध्य में चार अङ्गुल परिमाण वाला दिव्य नाड़ीकन्द विद्यमान है। उसके अन्दर चारों ओर दो अङ्गुल ऊँचा बारह पत्रों वाला प्रफुल्ल कमल विराजमान है।

ततः कर्णिकान्तस्त्रिकोणं सुरम्यम्,
परम्पुष्कराग्रं तदाधारमूलम्।
इडावामकोणोत्स्थिता दक्षिणेऽन्या,
सुषुम्णोर्ध्वकोणोत्स्थिता मस्तकान्तम् ।।१०।।

नाड़ी कन्द के द्वादशदलकमल के मध्य कर्णिका में एक सुन्दर त्रिकोण है। वहां पर स्थित पुष्कराग्र (योनिच्छद) उसका मूल आधार है। इस त्रिकोण के वामकोण पर इडा नाड़ी दाहिने कोण पर पिङ्गला (सूर्य) नाड़ी तथा सामने के ऊर्ध्वकोण से सुषुम्ना नाड़ी, जो मस्तक पर्यन्त जाती है, का उद्‌गम होता है।

त्रिकोट्यः सहार्धाः शरीरे हि नाड्यः
प्रधानाः दशेडादयो नाड्य उक्ताः।
ततस्तासु तिस्रः प्रधाना हि नाड्यः
इडा पिङ्गलास्ते सुषुम्णा क्रमाच्च ॥११॥

शरीर के अन्तर्गत साढे तीन करोड़ नाड़ियाँ होती हैं। उनमें इडा आदि दस नाड़ियां (**इडा पिङ्गला सुषुम्णा गान्धारी यशस्विनी पूषा हस्तिजिह्वा अलम्बुषा कुहू** और **शंखिनी**) प्रधान हैं। इन दस नाड़ियों में भी क्रमशः **इडा पिङ्गला** और **सुषुम्णा** प्रधान होती हैं।

गान्धारी तु गताऽस्ति सव्यनयने श्रोत्रे यशस्विन्यपि,
पूषादक्षिणकर्णके हि नयने जिह्वापराहस्तिनः।
वक्त्रेऽलम्बुषनाडिका खलु पुनः लिङ्गे कुहूर्व्यापृता,
मूले शंखिनो नाडिका हि भवने छत्रा हि नाड्यः पराः ॥१२॥

इसी नाड़ी कन्द से निकलकर गान्धारी नाड़ी बायें नेत्र पर्यन्त, यशस्विनी बायें कान पर्यन्त, पूषा दाहिने कान और हस्तिजिह्वा दाहिने नेत्र पर्यन्त, अलम्बुषा मुख पर्यन्त, कुहू लिङ्ग पर्यन्त और शंखिनी मूलदेश अर्थात् गुदा पर्यन्त स्थित रहती हैं। इस प्रकार ये मुख्य नाड़ियां शरीर में छत्र के समान स्थित रहकर शरीर की रक्षा एवं कार्य संचालन करती है।

इडा वामे स्थिता चन्द्रनाडी
परा पिङ्गला दक्षिणे भानुनाड़ी।
सुधत्तूर पुष्पाकृतिर्मध्यभागे
सुषुम्णाननेन्द्वर्करूपा हि मेरोः ॥१३॥

इन नाड़ियों में बायीं ओर चन्द्र नाड़ी इडा, दक्षिण ओर सूर्य नाड़ी

पिङ्गला और मध्य में सुन्दर खिले हुए धत्तूर के पुष्प के समान सुषुम्णा नाड़ी स्थित है। इस प्रकार मेरुदण्ड का मुख सुषुम्णा इडा और पिङ्गला के सहभाव से ऐसा प्रतीत होता है, मानों चन्द्र और सूर्य से युक्त मेरु शिखर हो।

सुषुम्णास्यदेशोत्थिता वज्रिणी सा
शिरोन्तं गता स्याच्च मध्ये च चित्रा।
मृणालस्य तन्तूपमेयाऽति सूक्ष्मा
रसाब्जं प्रभिद्योद्गता तारकाण्डा ॥१४॥

सुषुम्णा नाडी के मुख देश से वज्रिणी नाड़ी का उद्गम होता है। यह वज्रिणी भी शिर पर्यन्त गयी हुई है। इस वज्रिणी नाडी के भी मध्य में चित्रा नाडी है, जो मृणालतन्तु के सदृश अत्यन्त सूक्ष्म है और यह सुषम्णा नाडी के मध्य में स्थित पृथिवी स्थानी कमल अर्थात् मूलाधार चक्र के अन्दर से प्रारम्भ होती हैं इसका विस्तार अत्यन्त सूक्ष्म है और सीधा है [तार-काण्डा=तार की भांति सूक्ष्म विस्तार वाली]।

तदन्तः परा ब्रह्मनाडी तु धन्या
स्वयम्भूमुखादुत्थिता योगिगम्या।
परे ब्रह्मरन्ध्रे गतातीव सूक्ष्मा
चलच्चञ्चला कोटिभानूज्ज्वला सा ॥१५॥

उस चित्रा नाडी के भी अन्दर अत्यन्त महिमाशालिनी ब्रह्मनाडी है। यह ब्रह्मनाडी इतनी सूक्ष्म है कि केवल योगिजन ही इसे जान सकते हैं। यह स्वयम्भू लिङ्ग के अग्रभाग से प्रारम्भ होकर ऊपर स्थित ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त जाती है। यह ब्रह्मनाडी अत्यन्त सूक्ष्म तो है ही, करोड़ों सूर्यों के समन्वित तेज के समान उज्वल अर्थात् तेज युक्त और गतिमती विद्युत् के समान दीप्तिमती एवं गतिमती है।

नाडीनां क्रममुत्तमं यतमना ज्ञात्वा तु योगी महान्
ध्यात्वा वै भवति प्रभाकरसमः कान्त्या निशाधीश्वरः।
निर्धूयाघमशेषमेव सितधी जन्मान्तरोपार्जितम्।
जित्वा मृत्युमिवापरोऽमरवरः सिद्धो भवेत्स स्वयम् ॥१६॥

एकाग्रचित्त योगी नाडियों के इस क्रम को जानकर एवं उसमें अपने चित्त को एकाग्र करके सूर्य और चन्दमा के समान तेजस्वी हो जाता है, और स्वयं जन्म-जन्मान्तर में संचित अशेष पापराशि को नष्ट कर निर्मल शुभ्र बुद्धि वाला, मृत्युञ्जयी द्वितीय देवेश्वर (इन्द्र) के सदृश दिव्य गुणों से युक्त स्वयं सिद्ध हो जाता है।

मूलाधार पद्म

ततश्च मूलपङ्कजं चतुर्दलाभिमण्डितम्
स्वकन्द-कन्द-मध्यनाडिवक्त्र-लग्नशोभितम् ।
अधोमुखं सबिन्दु वादिसान्तकं नवैः परम्
मनोहरैः [प्रदीप्तमत्र शुद्धकाञ्चनोज्वलैः ।।१७।।

तदनन्तर साधक को चाहिए कि वह चार दलों से मंडित अपने उत्पत्ति स्थल मूल कन्द की मध्यनाड़ी सुषुम्ना के मुख भाग में ही अधोमुख होकर शोभायमान, अनुस्वार सहित व श ष स इन वर्णों से अर्थात् वँ शँ षँ सँ बीजाक्षरों से अलंकृत, शुद्ध स्वर्ण के सदृश उज्ज्वल परम मनोहर नवीन पंखुडियों वाले मूलपद्म अर्थात् मूलाधार चक्र का ध्यान करे।

धरा पराहि पद्ममध्यकर्णिकान्तरस्थिता
सुपीतरागनिर्मलाऽतिभाति कोटिचञ्चला।
वसूग्रवज्रसंवृताब्धिकोणमण्डलात्मिका
तदन्तरस्थभूमिबीजमब्धिबाहुमुज्ज्वलम् ।।१८।।

इस मूलाधार पद्म की कर्णिका के मध्य दिव्य पीत वर्ण वाली, अत्यन्त निर्मल करोड़ों विद्युत् दीप्ति की भांति कान्तिवाली, परा पृथिवी चतुष्कोण मण्डल युक्त आठ शूलों से आवृत होकर स्थित है। इस चतुष्कोण कर्णिका मण्डल में चार बाहुओं से सुशोभित भूमिबीज 'लँ' बीज मन्त्र विराजमान है। (इसके कारण ही इस पद्म को पृथिवी का स्थान कहा जाता है।) इस मूलधार पद्म का ध्यान करे। आठ शूलों से आवृत कहने से इसे भैरवी की कला से आविर्भूत डाकिनी का निवास स्थान भी समझना चाहिए।

तुलनीय—

अमुस्मिन्धरायाश्चतुष्कोण चक्रम्
समुद्भासि शूलाष्टकैरावृतन्तत् ।
लसत्पीतवर्णं तडित्कोमलाङ्गं
तदन्ते समास्ते धरायाः स्वबीजम् ।।
—(षट्चक्र निरुपण १.५)

गजेन्द्र-पृष्ठ संस्थितं सुपीतवर्णमद्भुतम्
तदङ्कदेश-स्वप्रकाश-सृष्टिकारिशावकः ।
चतुः प्रबाहुयुक्त-भानुतुल्यदेववक्त्रकः
कमण्डलुं दधान एव साक्षसूत्रमम्बुजम् ।।१६।।

यह पृथिवी बीज गजेन्द्र की पीठ पर स्थित है, दिव्यपीतवर्ण वाले अर्थात् सुवर्ण वर्ण युक्त अद्भुत् दीप्ति युक्त इस पृथिवी बीज के अङ्क में सूर्य के सदृश दिव्य प्रकाश युक्त मुख वाले, स्वप्रकाश से सृष्टि की रचना करने वाले, शिशु रूप धारण किये हुए एक हाथ में कमण्डलु द्वितीय में अक्षमाला तृतीय में कमल धारण किये हुए चार बाहुओं वाले ब्रह्मा विराजमान रहते हैं। उनका ध्यान करे।

तुलनीयः—

चतुर्बाहुभूषं गजेन्द्राधिरूढं
तदङ्के नवीनार्कतुल्यप्रकाशः ।
शिशुः सृष्टिकारी लसद्वेदबाहुः
मुखाम्भोज-लक्ष्मीश्चतुर्भागभेदः ।।
—(षट् चक्र निरुपण १-६)

वसेत्पुनश्च डाकिनीति धातृवामभागके
प्रकाशकोटिभानुभा प्रमत्तरक्तलोचना[१]
चतुर्भुजा हि साक्षसूत्रवारिपात्रसंयुता
ददाति योगिनः प्रकाशमाशु योगमम्बिका ।।२०।।

---

१. प्रमत्तवक्त्र लोचना क,

उपर्युक्त मूलाधार पद्म की कर्णिका में स्थित ब्रह्मा के बायीं ओर **डाकिनी** का निवास स्थान है। यह डाकिनी अनेक सूर्यों की कान्ति की समष्टि के समान कान्तिमती है। मदिरा पान से प्रमत्त व्यक्ति के लोचन के समान इसके लाल नेत्र हैं। इसकी चार भुजाएं हैं, जिनमें एक में अक्षसूत्र एवं द्वितीय में जलपात्र (कमण्डलु) है। इस चक्र में ध्यान करने पर यह डाकिनी अम्बिका ही साधक योगी को अविलम्ब प्रकाश अर्थात् मार्गदर्शन प्रदान करती हुई सिद्धि के पथ पर अग्रसर करती है।

मूलाधार पद्म

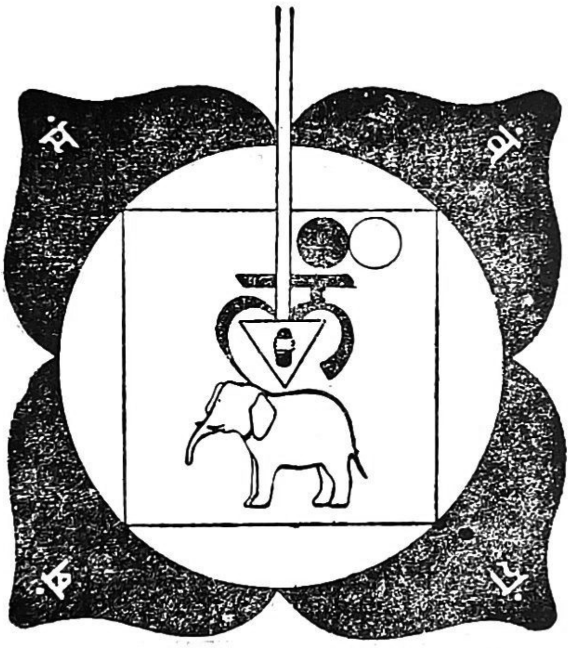

Mūlādhāra the hase chakra

तुलनीय—

वसेदत्रदेवी च डाकिन्यभिख्या
लसद् वेदबाहूज्ज्वला रक्तनेत्रा।
समानोदितानेकसूर्यप्रकाश:
प्रकाशं वहन्ती सदा शुद्धबुद्धे:।
—(षट्चक्र निरुपण १.७)

तत:कर्णिकान्त: समास्ते हि रम्यं, त्रिकोणं परं त्रैपुराख्यं सुगोप्यम्।
लसत्कोटिविद्युज्ज्वलं कामरूपं, ततोऽपानवायुस्तदन्ते प्रकाश: ॥२१॥

वहीं मूलाधार पद्म की कर्णिका के अन्तर्गत अत्यन्त गुप्त त्रैपुर नामक रम्य त्रिकोण है। यह त्रिकोण कोटि विद्युत्प्रकाश के समान उज्ज्वल एवं काम के सदृश सुन्दर है। उसके अन्तर्गत कन्दर्प नामा अपान वायु विद्यमान रहता है, जिसमें अद्भुत प्रकाश विद्यमान रहता है। प्रस्तुत पद्य में कन्दर्प वायु (अपानवायु) में प्रकाश स्वरूप रूप को स्वीकार किया है। स्मरणीय है कि न्यायवैशेषिक दर्शन में वायु को रूप रहित माना गया है (रूपरहितः स्पर्शवान् वायुः। तर्क संग्रह) अधिकांश दर्शनशास्त्र इस प्रसंग में वैशेषिक का ही अनुगमन करते हैं केवल सांख्यदर्शन वायु में भी रूप स्वीकार करता है। षट्चक्र निरूपण में इसी त्रिकोण में वज्रानाड़ी का उद्गम स्थान माना गया है।

तुलनीय—

वज्राख्या वक्त्रदेशे विलसति सततं कर्णिका-मध्यसंस्थम्।
कोणं तत् त्रैपुराख्यं तडिदिव विलसत्कोमलं कामरूपम्।
कन्दर्पो नाम वायुर्निवसति सततं तस्य मध्ये समन्तात्
जीवेशो बन्धुजीवप्रकरमभिहसन् कोटिसूर्यप्रकाशः॥
—(षट्० नि० १.८)

ततस्तु त्रिकोणान्तराले यदूर्ध्वे समास्ते हि कामाननो भानुतुल्यः।
लसद्दाडिमीपुष्पतुल्यप्रकाशः तदन्तस्ततो लिङ्गरूपी स्वयम्भूः॥२२॥

उस पूर्वोक्त त्रिकोण के अन्तर्गत ऊपर में कन्दर्प के सदृश मुखवाला सूर्य के सदृश तेजस्वी अनार के पुष्प के सदृश लाल कान्ति वाला स्वयं-भू लिङ्ग विद्यमान रहता है, उसका ध्यान करे।

तुलनीय—

"पूर्वोक्ता डाकिनी तत्र कर्णिकायां त्रिकोणकम्।
यन्मध्ये विवरं सूक्ष्मं रक्ताभं कामबीजकम्।
तत्र स्वयंभूलिङ्गं चाधोमुखालक्तकप्रभम्॥"

स्फुरच्चन्द्रबिम्बः सदास्तीह रम्यः
चलच्चंचलार्कानलोज्वालमालः।
तदभ्यन्तरे ब्रह्मसूत्रास्यमध्ये
पराचित्कलास्तेऽति सूक्ष्मा स्वभाभिः॥२३॥

इस स्वयम्भू लिङ्ग पर निरन्तर ही अत्यन्त देदीप्यमान रम्य चन्द्र बिम्ब विराजमान है, जिसके फलस्वरूप उसके भाल भाग पर अति वेगवती विद्युत् सूर्य एवं अग्नि की ज्वाला की भांति रम्य दीप्ति विद्यमान रहती है। उसके अन्तर्गत ब्रह्मनाडी के मुख के मध्य अत्यन्त सूक्ष्म पराचित् कला अपनी विशिष्ट कान्ति के साथ विद्यमान रहती है।

तुलनीय—

विद्युत्पूर्णेन्दुबिम्बप्रकरकरचयस्निग्धसन्तानहासी
काशीवासी विलासी विलसति सरिदावर्त्तरूपप्रकारः।।
—(षट्० नि० १.९)

तदूर्ध्वे पराकुण्डली योगिगम्या
समास्ते स्वयंभूतलिङ्गेऽहिरूपा।
सहार्धत्रिवृत्त्याकृतिः ब्रह्मरूपा
मृणालस्य तन्तूपमेयाति दीप्ता।।२४।।

उससे ऊपर स्वयम्भू लिङ्ग पर केवल योगियों के ही ज्ञान की विषयभूत अहिरूपा पराकुण्डली साढे तीन वृत्त लिपटी हुई आकृतिवाली कमलनाल के तन्तु के समान अति शुभ्र और सूक्ष्म अत्यन्त दीप्त अर्थात् तेज स्वरूप ब्रह्मरूपिणी विराजमान है, उसका ध्यान करे।

तुलनीय—

तस्योर्ध्वं विसतन्तु सोदरलसत्सूक्ष्मा जगन्मोहिनी
ब्रह्मद्वारमुखं मुखेन मधुरं संछादयन्ती स्वयम्।
शंखावर्त्तनिभा नवीनचपला-माला विलासास्पदा
सुप्ता सर्पसमा शिवोपरिलसत्सार्धत्रिवृत्ताकृतिः।
—(षट्० नि० १.१०)

या शक्तिः कुलकुण्डलीति गदिता कोट्यर्क विद्युत्प्रभा
शंखावर्त्तनिभा नवीन चपला साधोमुखा सर्वगा।
श्वासोच्छ्वास विभञ्जनार्थममलं वक्त्रं विधत्ते बहिः
अन्यच्छम्भुमुखान्तरालविलसत्तत्त्वामृतं निःसृतम्।।२५।।

जिस पराशक्ति को कुलकुण्डली कहा जाता है, वह एक साथ देदीप्यमान करोड़ों सूर्यो और बिजलियों के सदृश कान्तिमती है। शंख के आवर्त्त के समान शुभ्रा और अन्तर से वक्र दिखाई पड़ती हुई नवीन विद्युत के समान प्रतीत होती है। वह अधोमुखी सर्वत्र जाने में समर्थ है। वह सदा ही स्वयम्भू लिङ्ग के मुख के अन्दर ही रहती है, किन्तु श्वास उच्छास को ग्रहण करने के लिए वह अपना निर्मलमुख बाहर निकालती है। स्वयंभू लिङ्ग में स्थित और कभी-कभी श्वासोच्छ्वास हेतु मुख को बाहर निकालकर प्रकट होने वाली यह कुल कुण्डली तत्त्वामृतरूप है, जो मूल प्राण शक्ति से निःसृत है।

वक्त्रं सा तु निधाय भाति नितरां[1] सूक्ष्मा मनोहारिणी
गद्यैः पद्यपदादिभिः सुविमलैः काव्याम्बुधारावलिम्।
नित्यं ध्यानविधारिणां[2] रचयति द्राक्षारसोल्लासिनीम्
सा माया कुलनायिका हि जगतां जीवं च धत्ते परा॥२६॥

वह कुलकुण्डली सामान्य जन में सुषुम्णा मुख को अपने सुख में बन्द करके सोती हुई अत्यन्त सुशोभित होती रहती है। यह अत्यन्त सूक्ष्म और मनोहारिणी है। जो मनुष्य विधिपूर्वक इसका ध्यान करते हैं, वे द्राक्षा (अंगूर) के रस के सदृश आनन्द दायिनी गद्यपद्यमयी निर्दोष रसमय काव्य की रचना करने में समर्थ हो जाते हैं। यह कुल कुण्डली ही माया रूपा है, विश्व की कुल नायिका है तथा यह परा शक्ति ही श्वासोच्छवास के द्वारा जीव को धारण करती है। यही परावाक् (पर शब्दब्रह्म) कही जाती है।

तुलनीय—

कूजन्तो कुलकुण्डली च मधुरं मत्तालिमालास्फुटं
वाचं कोमलकाव्यबन्धरचनाभेदातिभेदक्रमैः।
श्वासोच्छ्वासविभञ्जनेन जगतां जोवो यया धार्यते
सा मूलाम्बुज गह्वरे विलसति प्रोद्दामदीप्तावलिः॥
—(षट्० नि० १.११

१. नित्यं क, २. विधारिणो क,

योगीन्द्रश्च मनो निवेश्य सितधीः मूलाम्बुजे मारुतम् ।
संकोच्योर्ध्वमुखं नयेत्सरसिजं दीपं यथा मारुतः ।
कन्दर्पानलसंभृतां लयवशात् देवीं परां कुण्डलीं
सूक्ष्मा ब्रह्मगतान्तराम्बरगता या चित्कलास्ते परा ।।२७।।

इस कुल कुण्डलिनी को जागृत करने के लिए साधक योगी को चाहिए कि वह सर्व प्रथम यम-नियमों की साधना द्वारा शरीर मन और बुद्धि को निर्मल अर्थात् प्रत्येक प्रकार के दोषों से मुक्त कर ले, उसके अनन्तर मूलाधार कमल में मन को एकाग्र करते हुए प्राण और अपान वायु को भी वहीं संयुक्त करे। गुदा का संकोचन करके अपान वायु को ऊर्ध्वगामी करने से उस वायु के दबाव से अधोमुख मूलाधार पद्म उसी प्रकार ऊर्ध्वमुख हो जाता है, जैसे वायु के वेग से दीपक की ज्योति (लपट) सीधे ऊपर के स्थान पर तिरछी हो जाती है अथवा स्वर्णकार नालिका से वायु का वेग डाल कर अपनी आवश्यकता के अनुसार उसे पार्श्वगामी अथवा अधोगामी भी कर लेता है और इस प्रकार उसका उपयोग करता है। तात्पर्य यह है कि गुदा के आकुञ्चन रूप मूल बन्धके द्वारा अपान वायुको ऊर्ध्वगामी करने से मूलाधार चक्र अधोमुख से ऊर्ध्वमुख हो जाता है; इसे ही इसका जागृत होना कहा जाता है। इसकी साधना अर्थात् अभ्यास द्वारा चित्त को लय करके ध्यान करने से कामानल से आवृत अतिसूक्ष्म परादेवी कुण्डलिनी, जो शरीर में स्थित पराचित्कला है, को ब्रह्मनाडी सुषुम्णा के अन्दर स्थित आकाश में संचारित किया जाता है। साधक को चाहिए कि वह अपेक्षित एवं गुरु द्वारा निर्दिष्ट विधि से ध्यान द्वारा उसे जागृत करें।

तुलनीय—

"ध्यात्वैतन्मूलचक्रान्तरविवरलसत्कोटिसूर्यप्रकाशाम् ।"

—(षट्० नि० १.१३)

जीवेनैव तया तथा परतया ध्यानावधानक्षमः ।
एकीकृत्य गुरूपदिष्टविधिना भित्वा हि लिङ्गत्रयम् ।
हुंकारेण तु सूक्ष्मतन्तुसरणौ प्रोत्थाप्य चोर्ध्वाम्बुजे
कन्दोर्ध्वे परशंकरे लयवशात्संयोजयेत् योगवित् ।।२८।।

निरन्तर ध्यान करने का अभ्यास हो जाने पर साधक को चाहिए कि गुरु द्वारा उपदिष्ट विधि से स्वयंभू लिङ्ग सहित इतर तीनों लिङ्गों (ग्रन्थियों) का भेदन करके तथा जीवात्मा और उस पराशक्ति को एकीकृत करके हुंकार पूर्वक उन्हें सूक्ष्मतन्तु मार्ग अर्थात् ब्रह्मनाडी में प्रविष्ट करावे तथा उसमें स्थिर करते हुए ऊर्ध्व कमल अर्थात् सहस्रार पद्म अथवा उससे नीचे आज्ञा चक्र में सुस्थिर करके ध्यान के माध्यम से ही जीव और कुण्डली को कन्द स्थान से सम्बद्ध सर्वोपरि स्थल अर्थात् कन्द से निर्गत ब्रह्मनाड़ी के सर्वोच्च स्थल सहस्रार पद्म में पर शंकर से, महादेव से संयुक्त करे।

तुलनीय—

नीत्वा तां कुलकुण्डलीं लयवशाज्जीवेन सार्धं सुधी-
र्मोक्षे धामनि शुद्धपद्मसदने शैवे परे स्वामिनि॥
—(षट्० नि० ८.५२)

पीत्वा तत्र परामृतं परशिवाल्लाक्षारुणाभं ततः
चानन्दोल्लसिता परा कुलपथे मूले पुनश्चाविशेत्।
स्व स्व स्थानमपानमेव नितरां संस्थाप्य धीरोऽमृतैः।
सन्तर्प्यापरदेवताः प्रभवति त्वाज्ञादिचक्रे स्थिताः॥२९॥

पूर्व पद्यों में पराशक्ति कुण्डलिनी के ऊर्ध्व नयन की विधि का वर्णन करके प्रस्तुत पद्य में उसकी पुनः निजमूल स्थान में स्थापना का निर्देश किया गया है।

पूर्वोक्त प्रकार से जीव सहित पराशक्ति कुलकुण्डलिनी को लय साधना (ध्यान-साधना) के माध्यम से ऊर्ध्व नयन के द्वारा परम शिव से संयुक्त कर के वहां परम शिव से लाक्षाराग के समान अरुण परम-अमृत का पान करके आनन्द से उल्लसित होकर पराकुलकुण्डलिनी को पुनः कुल पथ अर्थात् सुषुम्णा नाड़ी के मार्ग से अपने मूल स्थान में समाविष्ट करे। इस प्रकार साधक ध्यान साधना के द्वारा आज्ञा आदि चक्रों में स्थित अपर देवताओं को पर देवता के संयोग से प्राप्त अमृत से सन्तृप्त करके अपान और प्राण को भी उनके अपने-अपने स्थानों पर प्रतिष्ठित कर दे। अर्थात् उन्हें सामान्य रूप से कार्य करने के लिए छोड़ देवे।

एवं येन च पीयतेऽमृतरसः चन्द्रार्कवह्न्युद्गमात्
दिव्यो निःसृत एवमेव कलया देव्या सहानन्दवित्
बद्ध्वा मारुतमेव शान्तहृदयो मृत्युञ्जयश्चापरः
स स्याद् विष्णुसमः स्वयं त्रिजगतां रक्षाविनाशे क्षमः ।।३०।।

जो साधक पूर्वोक्त प्रकार से प्राणायाम साधना में केवल कुम्भक करके चन्द्रनाडी इडा, सूर्यनाडी पिङ्गला एवं अग्निनाडी सुषुम्णा के उद्गम (मूल स्थान) कन्द (मूलाधार) में रहने वाली देवी कला परा-कुण्डली को परतत्त्व के साथ संयुक्त करके वहां से निकलने वाले दिव्य अमृत रस का पान करके आनन्द का अनुभव करता है, वह पूर्ण शान्तचित्त मृत्युञ्जयी होकर स्वयं विष्णु के सदृश त्रैलोक्य के रक्षा और विनाश में समर्थ हो जाता है। स्वामी पूर्णानन्द विरचित षट् चक्र निरूपण में उपर्युक्त फल हृदय स्थित अनाहत चक्र के ध्यान से वर्णित किया गया है।

द्रष्टव्य—

"ध्यायेद्यो हृदि पंकजं शर्वस्य पीठालयम्.........
वाचामीश्वर ईश्वरोऽपि जगतां रक्षा-विनाशे क्षमः ।
—(षट्० नि० ४.२६)

इमां योनिमुद्रां सदाभ्यासतोऽपि,
भवेन्मंत्रसिद्धिर्नरो देवतुल्यः ।
कविः सर्वशास्त्रे, जगत्पालकश्च,
प्रभुस्तस्य हस्तेष्टसिद्धिः स धन्यः ।।३१।।

मूलबन्ध पूर्वक प्राणायाम साधना से मूलाधार चक्र के जागरण की इस सम्पूर्ण साधना प्रक्रिया को '**योनिमुद्रा**' कहते हैं, इस योनिमुद्रा का निरन्तर अभ्यास करने से साधक को मन्त्र सिद्धि हो जाती है, और वह गुणों एवं शक्तियों के आधार पर देवताओं के सदृश हो जाता है। कवित्व शक्ति एवं समस्त शास्त्रों का ज्ञान भी उसे प्राप्त हो जाता है, समस्त लोक उसके वश में हो जाते हैं, एवं उन समस्त लोकों के पालन का सामर्थ्य भी उसमें आ जाता है। समस्त इष्ट सिद्धियां उसके हाथ में विद्यमान हो जाती है।

षट्चक्र विवरण के रचयिता पूर्णानन्द स्वामी ने उक्त ग्रन्थ के छठे प्रकरण के छत्तीसवें पद्य की व्याखया में किसी अन्य ग्रन्थ का उद्धरण देते हुए योनिमुद्रा का निम्नलिखित स्वरूप निर्दिष्ट किया है। "योनिमुद्रा हेतु साधक सिद्धासन में बैठ कर बायें पैर की एंड़ी को गुह्य स्थान में प्रविष्ट सा करते हुए स्थापित करें। उसके ऊपर दाहिने पैर की एड़ी रखे। तत्पश्चात् सहज भाव से इस प्रकार बैठे कि कमर शिर और ग्रीवा एक सीध में रहें। इस स्थिति में बैठकर कौए के चोंच के आकार में ओष्ठ करके मुख से वायु अन्दर लेकर पूरक करे एवं सभी अंगुलियों से मुखनासिका आदि इन्द्रियों को बन्द करके अर्थात् दोनों अंगूठों से दोनों कानों को, दोनों तर्जनी से दोनों आंखों को, दोनों मध्यमा से नासिका रन्ध्रों को एवं अनामिका-कनिष्ठा से मुख को बन्द करके जीव बुद्धि प्राण और मन को एकाग्रकर मन्त्र को स्मरण करता हुआ वायु को स्थिर करे "यह सभी योगियों को प्रिय योनिमुद्रा है।" 'पुरबन्धकारण योनिमुद्रालक्षणमाह

'ततो गुह्ये वामपादपार्ष्णिं तु विनिवेशयेत्।
तस्योपरि महादेवि दक्षपार्ष्णिं निवेशयेत्॥
ऋजुकायशिरोग्रीवः काकचञ्चुपुटेन च।
आकारेण बहिर्वायुं जठरं परिपूरयेत्॥
अङ्गुलीभिर्दृढं बद्ध्वा करणानि समाहितः।
अङ्गुष्ठाभ्यामुभे श्रोत्रे तर्जनीभ्यां विलोचने।
नासारन्ध्रे च मध्याभ्यामन्याभिर्वदनं दृढम्।
बुद्ध्यात्मप्राणमनसामेकत्वं तन्मनुं (मन्त्रं) स्मरन्।
धारयेन्मारुतं सम्यक् योगोऽयं योगिवल्लभः॥
—(षट्चक्र निरूपण टीका पृ० ५१)

अथच्छिन्न-त्वष्टोन्मदाः वीर्यहीनाः
तथा शोधिताश्चैव वृद्धाङ्गहीनाः।
भवन्त्यस्य मन्त्राः सुसिद्धोत्तमास्ते
सदा चाभ्यसेद्यस्त्विमां[1] योनिमुद्राम्॥३२॥

---

१. सदाभ्यासयेद्यस्त्विमां ख.

इस पद्य में मन्त्रों के दोषों का नाम ग्रहण पूर्वक उल्लेख करके योनिमुद्रा के साथ अभ्यास के द्वारा उनकी निवृत्ति का एवं मन्त्र सिद्धि का संकेत किया गया है। ग्रन्थकार का कहना है कि किसी भी मन्त्र में साधना दोष देश और काल के प्रभाव से मन्त्र का ब्रह्मत्व अर्थात् मन्त्र भाव का नष्ट होना, उन्मद होना अर्थात् साधक में विविध विकार उत्पन्न करना, हीन वीर्य होना, मन्त्र के अंश विशेष में वृद्धत्व अर्थात् जरा दोष आदि दोष उत्पन्न हो जाते हैं। फलतः वे मन्त्र साधक को अपेक्षित फल नहीं देकर कभी-कभी कष्ट प्रदान करते हैं। इस योनिमुद्रा के साथ मन्त्र-साधना करने से मन्त्रों के उपर्युक्त सभी दोष दूर हो जाते हैं तथा निरन्तर अभ्यास करने से साधक को पूर्णतया सिद्ध हो जाते हैं।

कृत्वैवं प्रतिवासरं यतमनाः योगं भवेत्तस्य वै
मृत्युश्चैव कदापि न स्मरहरात्तुल्यो[1] महानेव सः।
कर्त्तुं हर्तुमपीश्वरो हि जगतीं सिद्धो मुरारिः स्वयम्
कान्तानां मदनोपमः परपुरेगामी गुणालंकृतः॥३३॥

जो साधक पूर्वोक्त प्रकार से एकाग्रचित्त होकर योनिमुद्रा का अर्थात् मूलाधार चक्र को जागृत करके मूलबन्ध पूर्वक केवल कुम्भक प्राणायाम का अभ्यास करता है,उसे योग में पूर्ण सिद्धि प्राप्त हो जाती है, वह मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है। वह कामजयी शिव के समान महान् हो जाता है और संसार के निर्माण और विनाश में भी सक्षम हो जाता है। स्वयं भगवान् मुरारिकृष्ण के स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, स्त्रियों के लिए वह साक्षात्कामदेव के समान सुन्दर एवं रमणीय हो जाता है तथा समस्त गुणों से अलंकृत होकर वह ब्रह्मलोक (परपुर) को प्राप्त कर लेता है।

गद्यैः पद्यपदादिभिः सुविमलां वाणीं परां स्रग्धराम्
गंगास्रोत इवामलां द्रुतवतीमानन्दकल्लोलिनीम्।
काव्यालिं खलु कौतुकाद् रचयति व्यंग्यार्थसार्थैर्युताम्
संसारे जनुरेव तस्य न पुनः पापै र्न वा लिप्यते॥३४॥

---

१. स्मरहरेण तुल्यः इति वैयाकरणाः

उपर्युक्त योग साधना में सिद्ध योगी कौतुकवश अनायास ही इच्छानुसार सम्पूर्णतया दोषों से रहित शब्द ब्रह्म स्वरूपिणी गुणगण माला से समन्वित अथवा स्रग्धरा जैसे विशाल कठिन छन्दों में भी, गंगा स्रोत के समान अत्यन्त निर्मल एवं पावन रसपरिलुप्त ब्रह्मास्वाद सहोदर आनन्द की धारा प्रवाहित करने वाले व्यंग्यार्थ परम्परा से समन्वित गद्य-पद्य मय काव्यों की रचना में समर्थ हो जाता है। ऐसे सिद्धयोगी सब प्रकार के पापों के अवलेप से अर्थात् कर्म करते हुए भी कर्मबन्धन से मुक्त रहते हैं, तथा संसार में उनका पुनः जन्म कभी भी नहीं होता।

इति श्री वीरेश्वरानन्द ब्रह्मचारि विरचिते योगरत्नाकरे

द्वितीयस्तरङ्गः।

ब्रह्मचारि वीरेश्वर विरचित योगरत्नाकर का द्वितीय तरङ्ग पूर्ण हुआ और उसपर 'प्रणव' इस द्वितीय नाम से विश्रुत महामहोपाध्याय स्वामी अनन्त भारती विरचित योगरत्नाकर दीपिका पूर्ण हुई।

तृतीय तरङ्ग

प्रागुक्तं कमलं क्रमाद्यतमना ध्यात्वा पुनर्मारुतं
कृत्वा कुम्भकमल्पतः क्रमवशान्नासाग्रदृष्टिर्बुधः।
भ्रूमध्येऽनिलहीनदीपकलिकाकारं च हृन्निश्चलं
ध्यायेन्मोक्षपथावलम्बनधिया मूलादिनिर्वाणतः ॥१॥

पूर्वोक्त क्रम से पूर्ववर्णित मूलाधार कमल का ध्यान करते हुए साधक एकाग्रचित्त होकर धीरे-धीरे पूर्वोक्त प्रकार से पूरक करके कुम्भक करे एवं उसके अनन्तर नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि को स्थिर करे, तदनन्तर मोक्षपथ सुषुम्णा में विद्यमान मूलाधार स्वाधिष्ठान मणिपूर अनाहत विशुद्ध आज्ञा एवं निर्वाण अर्थात् सहस्रार पद्मों के अवलम्बन की दृष्टि से अर्थात् इन सभी पद्मों को जागृत करने के लिए भ्रू मध्य में अर्थात् आज्ञा चक्र में निर्वात दीपशिखा के सदृश ज्योति का ध्यान करे।

स्वाधिष्ठान चक्र

अथातः सुषुम्णोदरे लिङ्गमूले,
समास्ते हि सिन्दूररागोज्ज्वलाब्जम्।
परं षड्दलोपेतपद्मं प्रफुल्लं
बकारादिलान्तै र्युतं चाति दीप्तम् ॥२॥

मूलाधार पद्मके अनन्तर सुषुम्णा के मध्य लिङ्ग स्थान के मूल में सिन्दूर के सदृशवर्ण वाला अतिशय कान्तिमान् द्वितीय कमल है, जिसे **स्वाधिष्ठान पद्म** या **स्वाधिष्ठान चक्र** कहते हैं। इस विकसित पद्म में छ दल अर्थात् पंखुड़ियां हैं, जिनमें क्रमशः प्रत्येक में बँ भँ मँ यँ रँ लँ बीजाक्षर अतिदीप्त रूप में अंकित हैं।

तुलनीय—

सिन्दूरपूररुचिरारुणपद्ममन्यत्,
सौषुम्णमध्यघटितं ध्वजमूलदेशे।

अङ्गच्छदैः परिवृतं तडिदाभवर्णैं,
वाद्यैः सबिन्दुलसितैश्च पुरन्दरान्ते।
—(षट्० नि० २.१४)

अम्भोजमण्डलयुगं द्विजराज तुल्यं
खण्डेन्दुमध्यलसितं वरुणाय तत्र।
ध्यायेत्तुषारसदृशं मकराधिरूढं
वँकारबीजममलं धृतवेदबाहुम् ॥३॥

इस पद्म की कर्णिका में शारदीय चन्द्र मण्डल के समान शुभ्र कान्ति युक्त दो कमल हैं, जिनके मध्य में अर्धचन्द्र विद्यमान है। जैसा कि राघव भट्ट ने भी कहा है "अर्धचन्द्रं कृत्वा तदुभयभागे सरोजद्वयं कुर्यात्। तदुक्तमाचार्यैः 'अब्जोपेतार्धेन्दुमद्बिम्बमाप्यम्' इति।" (षट्०नि० श्लोकार्थ परिष्कारिणी पृ० २३)। यह पद्म मण्डल वरुण का पीठ (स्थान) है, जहां 'वँ'कारबीज तुषार की कान्ति के सदृश कान्ति वाले चार बाहुओं वाले वरुण मकर पर आरुढ़ होकर विराजते हैं। उनका ध्यान करे।

तुलनीय—

तस्यान्तरे प्रविलसद् विशदप्रकाशम्
अम्भोजमण्डलमथो वरुणस्य तस्य।
अर्धेन्दुरूपलसितं शरदिन्दुशुभ्रं
वंकार बीजममलं मकराधिरुढम् ॥
—(षट्० नि० २५)

तत्रास्ति विष्णु र्भगवाननन्तो
नीलाञ्जनाभोज्वल-वेदबाहुः।
गदाब्जचक्राणि दधच्च शंखं
श्रीवत्सचिह्नोज्ज्वल कौस्तुभाङ्कः ॥४॥

वहां वरुण बीज 'वँ'कार के मध्य अञ्जन के सदृशनील कान्ति वाले चार बाहुओं से युक्त अनन्त नाम से प्रसिद्ध भगवान् विष्णु विराजमान रहते हैं, जिनके चारों हाथों में क्रमशः प्रत्येक में गदा

कमल चक्र एवं शंख विद्यमान हैं तथा शरीर उज्ज्वल श्रीवत्स के चिह्न एवं कौस्तुभ से सुभूषित हैं। यहां पर साधक इसका ध्यान करे।
तुलनीय—

तस्याङ्कदेशे हरिरेव पायात्
नीलप्रकाशरुचिरश्रियमादधानः।
पीताम्बरः प्रथमयौवनगर्वधारी
श्रीवत्सकौस्तुभधरो धृतवेदबाहुः॥

—(षट्० नि० १६)

तत्सव्यदेशे खलु राकिणी सा
नीलाद्रिकान्त्युज्ज्वल - कोमलाङ्गी।
नानास्त्रवस्त्राभरणैः प्रदीप्ता,
दोर्भिश्चतुर्भिः मदनार्द्रचित्ता॥५॥

इस स्वाधिष्ठान पद्म के अन्तर में स्थित दो पद्मों में से जहां अनन्त भगवान् विष्णु विराजमान हैं, उसके वाम भाग में स्थित द्वितीय पद्म में नीलमणि के सदृश उज्ज्वल कान्ति युक्त कोमल अङ्गों वाली, विविध अस्त्रों वस्त्रों और आभूषणों से सुभूषित चार भुजाओं वाली

स्वाधिष्ठान पद्म

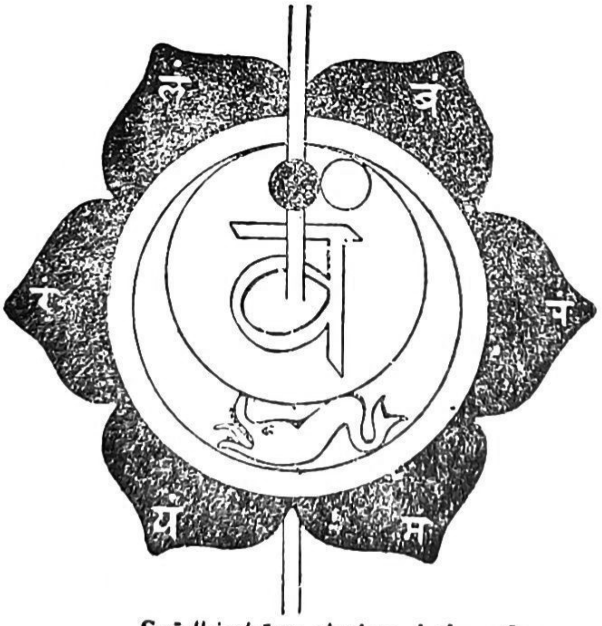

Svādhisthāna chakra below the navel

मदभाव विह्वल राकिणी विराजमान है। राकिणी के स्वरूप और ध्यान के प्रसङ्ग में किसी प्राचीन ग्रन्थ का उद्धरण देते हुए पूर्णानन्द ब्रह्मचारी का कथन है कि उसके हाथों में प्रत्येक में क्रमश: त्रिशूल कमल डमरु और तीक्ष्ण टङ्क है। उसके तीन लाल नेत्र हैं, दांत तीक्ष्ण कुटिल और चमकीले हैं, ऐसी लाल धार सी नाक वाली दीप्तिमती शुक्लान्न अर्थात् शुक्र की कामना करती हुई अभीष्ट फलदायिनी राकिणी का स्वाधिष्ठान गत द्वितीय कमल पर ध्यान करना चाहिए। तुलनीय—

श्यामां शूलाब्जहस्तां डमरुकरयुतां तीक्ष्णटंकं वहन्तीम्
उग्रां रक्तत्रिनेत्रां कुटिलसविलसद् दन्तदंष्ट्राप्रभाभि:।
दीप्तां तां देवदेवीं द्वितयकमलगां रक्तधारैकनासां
शुक्लान्ने सक्तचित्तामभिमतफलदां राकिणीं चिन्तयेत्ताम्॥
(षट्चक्र निरूपण श्लोकार्थ परिष्कारिणी टीका पृ० २७)

तथा—

अत्रैव भाति सततं खलु राकिणी सा
नीलाम्बुजोदरसहोदरकान्तिशोभा।
नानायुधोद्यतकरै र्लसिताङ्गलक्ष्मी-
र्दिव्याम्बराभरणभूषितमत्तचित्ता।
—(षट्० नि० १७)

इदं स्वाधिष्ठानं नियतमभियोज्यन्तु पवना-
न्मनो ध्यायन्त्वेवं मुररिपुसमान: क्षितितले।
भवेत्तेषां वाणी द्रुतमधुरधाराऽमलमयी
कदाचिन्नो पूज्या: सुरवरगणा: सन्ति भुवने॥६॥

उपर्युक्त विवरण से अनन्त भगवान् विष्णु और कामदा देवी राकिणी से अधिष्ठित इस स्वाधिष्ठान पद्म पर प्राणसाधना के माध्यम से चित्त (मन) को एकाग्र करना चाहिए। जो साधक इस पद्म में मन को एकाग्र करके इसका ध्यान करता है, वह भूमण्डल में विष्णु के समान हो जाता है। उसकी वाणी रसमयी निर्मल मधुर धारा को प्रवाहित करती है और वह समस्त लोक लोकान्तरों में भी सर्व पूज्य

हो जाता है। तीनों लोकों में उससे श्रेष्ठ अतएव उसके द्वारा पूज्य देवताओं में भी नहीं रह जाते। अर्थात् वह योगी ही सर्वपूज्य देवगणों का भी पूज्य हो जाता है।

तुलनीय—

'स्वाधिष्ठानाख्यमेतत्सरसिजममलं चिन्तयेद्यो मनुष्यः,
तस्याहंकारदोषादिकसकलरिपुः क्षीयते तत्क्षणेन।
योगीशः सोऽपि मोहाद्भुततिमिरचये भानुतुल्यप्रकाशो-
गद्यैः पद्यैः प्रबन्धै विरचयति सुधावाक्यसन्दोहलक्ष्मीः।।'

(षट्० नि० १८)

मणिपूरक पद्म—

ततो नाभिमूले परं नीलपद्मं,
डकारादि फान्तैर्युतं दिक्सुपत्रम्।
ततः स्वस्तिकोपेतमग्नेस्त्रिकोणं,
परं मण्डलं बालभानूपमेयम्।।७।।

इसके अनन्तर नाभिमूल में एक अन्य नीलवर्ण वाला पद्म है। इसमें डँ ढँ णँ तँ थँ दँ धँ नँ पँ फँ बीजाक्षरों से युक्त दस पंखुड़ियां हैं। इसमें तीनों ओर बाहर की ओर स्वस्तिक चिह्न मध्य में समानान्तर लम्ब रेखा से युक्त उगते हुए सूर्यमण्डल के सदृशवर्ण वाला एक त्रिकोण है। यह त्रिकोण मण्डल अग्नि का स्थान है। अत एव उसमें अग्नि बीज 'रँ' अंकित है। इस पद्म को मणिपूर पद्म कहते हैं। साधक को चाहिए कि स्वाधिष्ठान चक्र को जागृत करने के बाद इस पर ध्यान करे।

तुलनीय—

'तस्योर्ध्वे नाभिमूले दशदललसिते पूर्णमेघप्रकाशे
नीलाम्भोजप्रकाशैरुपहितजठरे डादिफान्तैः सचन्द्रैः।
ध्यायेद्वैश्वानरस्यारुणमिहिरसमं मण्डलं तत् त्रिकोणं
तद्बाह्ये स्वस्तिकाख्यैस्त्रिभिरभिलसितं तत्र वह्नेः स्वबीजम्।"

—(षट्० नि० १९)

तदन्तः समुद्भासितं वह्निबीजं,
समास्तेऽजपृष्ठे नवीनार्कतुल्यम्।
चतुर्बाहुभूषं तदङ्के हि रुद्रः
समास्ते त्रिनेत्रो वराभीतिहस्तः ॥८॥

लसद्भस्मभूषोज्ज्वलो भानुतुल्यः
समास्तेऽत्र देवी परा श्यामलाङ्गी।
चतुर्भिर्भुजैः शोभिता लाकिनी सा
वराभीतिपद्मासि हस्ता प्रशस्ता ॥९॥

मणिपूर पद्मगत इस पूर्वोक्त त्रिकोण के अन्तर्गत मेष के पृष्ठ पर[1] अग्निबीज 'रँ' दिव्य प्रभा के साथ विद्यमान है। इस अग्निबीज के अंक में नवीन सूर्य के सदृश कान्ति से देदीप्यमान तीन नेत्रों वाले वरदान और अभयदान मुद्रा से युक्त चार बाहुओं वाले (यहां चार बाहुओं में से केवल दो बाहुओं की भूषण मुद्राओं का कथन किया गया है अन्य दो बाहुओं की भूषाओं का कथन प्रायः नहीं किया गया है) शरीर में लगी भस्मरूपी आभरण के द्वारा उज्ज्वल सूर्य के समान देदीप्यमान रुद्र विराजते हैं।

तुलनीय—

ध्यायेन्मेषाधिरूढं नवतपननिभं वेदबाहूज्ज्वलाङ्गं
तत्क्रोडे रुद्रमूर्त्तिर्निवसति सततं शुद्धसिन्दूरमूर्त्तिः।
भस्मालिप्ताङ्गभूषाभरणसितवपुर्वृद्धरूपी त्रिनेत्रो—
लोकानामिष्टदाताऽभयलसितकरः सृष्टिसंहारकारी॥
—(षट्० नि० २०)

उनके वाम पार्श्व में श्यामल अंगों वाली चार भुजाओं से सुशोभित, चारों हाथों में क्रमशः प्रत्येक में वरदानमुद्रा अभयदान-मुद्रा, पद्म एवं असि धारण किये हुए लाकिनी देवी है।

एक अन्य परम्परा के अनुसार उसके हाथों को क्रमशः वज्र, शक्ति

---

१. प्रस्तुत पद्म में मेष (भेंड़ा) के लिए अज शब्द का प्रयोग हुआ है। सामान्यतः अज शब्द बकरा का वाचक होता है।

अभयमुद्रा और वरदानमुद्रा[१] तथा तृतीय परम्परा के अनुसार क्रमशः शक्ति, वज्र, दण्ड और अभयमुद्रा सुशोभित करती है।[२] श्यामल कोमल अङ्गों वाली तथा सबका सर्वविध कल्याण करने वाली होने से पराप्रशस्ता देवी लाकिनी विराजती है। तुलनीय—

अत्रास्ते लाकिनी सा सकलशुभकारी वेदबाहूज्ज्वलाङ्गी,
श्यामा पीताम्बराद्यैर्विविधविरचनालङ्कृता मत्तचित्ता।

षट्० नि० २१

मणिपूर पद्म

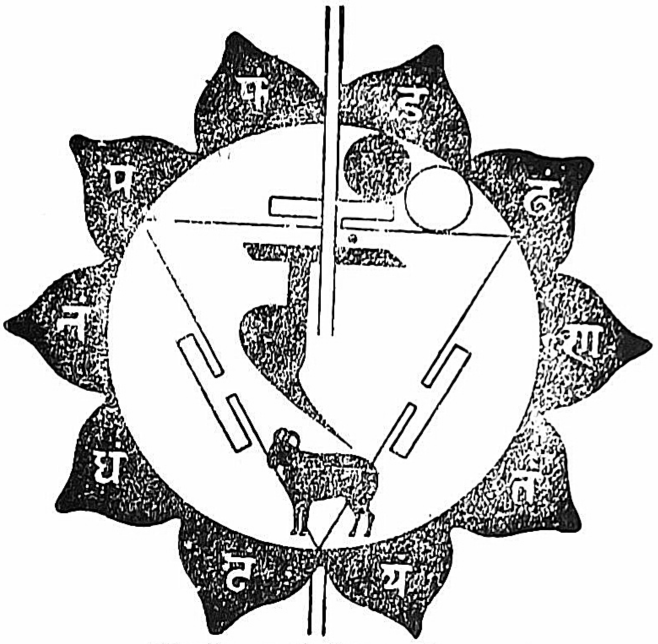

Manipura chakra at the navel centre

ध्यायेद्यो मणिपूरकं प्रतिदिनं ध्यानावधानक्षमः
सः स्याद् रुद्रसमः क्षितौ मुनिवरः शास्त्रेषु वागीश्वरः।
नारीणां मदनोपमः परपुरे गन्तुं क्षमो योगवित्,
तस्याष्टौ खलु सिद्धयः करतले वश्याङ्गुलौ[३] श्रीरपि ॥१०॥

---

१. नीलां देवीं त्रिवक्त्रां त्रिनयनलसितां दंष्ट्रिणीमुग्ररूपाम्,
वज्रं शक्तिं दधानामभयवरकरां दक्षवामे क्रमेण।
—षट्० नि० श्लो० परि० पृ० ३१

२. दिक्पत्रं नाभिपद्मे त्रिवदनविलसद् दंष्ट्रिणीं रक्तवर्णां,
शक्तिं दम्भोलिदण्डावभयमपि भुजैर्धारयन्तीं महोग्राम् ॥
—षट्० नि० टिप्पणी पृ० ३१

३. अङ्गुले क

जो साधक उपर्युक्त विवरण वाले मणिपुर चक्र का व्यतिक्रम के बिना ध्यान करने में समर्थ हो जाता है, वह मुनिवर साधक भूमण्डल में रुद्र के समान विश्व के कल्याण एवं संहार में समर्थ हो जाता है। शास्त्रों के विषयों में वह बृहस्पति के समान सर्वज्ञ हो जाता है। स्त्रियों की दृष्टि में वह कामदेव के समान सुन्दर एवं रम्य होता है। पर-शरीर में प्रवेश एवं शिवलोक में इच्छानुसार जाने का सामर्थ्य भी उसे प्राप्त हो जाता है। अणिमा महिमा लघिमा गरिमा प्राप्ति प्रकाम्य ईशित्व और वशित्व ये आठों सिद्धियां उसे हस्तगत रहती हैं तथा लक्ष्मी भी उसके इशारे पर रहती है, अर्थात् पूर्णतया उसके अधीन रहती हैं।

तुलनीय—

'ध्यात्वैतन्नाभिपद्मं प्रभवति नितरां संहृतौ पालने वा,
वाणी तस्याननाब्जे निवसति सततं ज्ञानसन्दोहलक्ष्मीः॥

षट्० नि० २१

अनाहत पद्म

ततो हृत्सरोजं नवीनार्कतुल्यं
दलैर्भानुसंख्यैर्वृतं चाभिरम्यम्।
ककारादिठान्तैर्लसद् बिन्दुयुक्तैः
प्रदीप्तं हि कल्पद्रुमं देववन्द्यम्॥११॥

मणिपुर पद्म के अनन्तर नवीन सूर्य के सदृश कान्तियुक्त बारह पंखुड़ियों से सब ओर से आवृत होने से परम रमणीय प्रतीत होने वाला, कँ खँ गँ घँ ङँ चँ छँ जँ झँ ञँ टँ ठँ इन बीजाक्षरों से प्रत्येक दल (पंखुड़ी) में अलंकृत, अत्यन्त दीप्तिमान, न केवल प्रत्येक कामना को पूर्ण करने वाला, अपितु कामना से भी अधिक प्रदान करने वाला अतः कल्पवृक्ष की भांति अनाहत पद्म है, जो देवों के लिए भी वन्दनीय है। बिना किसी आघात के ही शब्दब्रह्मरूप ध्वनि साधक को यहां पर सुनाई देती है। अतः इसे अनाहत पद्म नाम से स्मरण किया जाता है। कहा भी है—'शब्दब्रह्ममयः शब्दोऽनाहतस्तत्र श्रूयते। अनाहताख्यं पद्मं तन्मुनिभिः परिकीर्त्तिम्।'

[षट्० नि० श्लो० परि० पृ० ३२]

तुलनीय—

'तस्योर्ध्वे हृदि पङ्कजं सुललितं बन्धूककान्त्युज्ज्वलम्,
काद्यैर्द्वादशवर्णकैरुपहितं सिन्दूररागान्वितैः ।
× × × ×
नाम्नाऽनाहतसंज्ञकं सुरतरुं वाञ्छातिरिक्तप्रदम् ।।
[षट्० नि० २२]

समास्तेऽत्र षड्बिन्दुभिर्मण्डितं यत्
परं मण्डलं धूमतुल्यं हि शस्तम् ।
तदन्तश्च धूमावली धूसराढ्यं
मृगारूढमेवानिलस्य स्वबीजम् ।।१२।।

बारह दलों वाले इस अनाहत नामक हृत्पद्म के अन्दर छः बिन्दुओं अर्थात् छः कोणों से मण्डित एक धूम्रवर्ण वाला अन्य मण्डल है। इस षट्कोण के अन्तर्गत कर्णिका में धूम समूह से धूसरित की भांति धूमवर्ण पवन बीज यँ अक्षर है। यह कृष्ण मृग पर आरूढ़ है अर्थात् कृष्ण मृग उसका पीठ है।

तुलनीय—

'वायोर्मण्डमत्र धूमसदृशं षट्कोणशोभान्वितम् ।।
तन्मध्ये पवनाक्षरं च मधुरं धूमावली धूसरम् ।
ध्यायेत्पाणिचतुष्टयेन लसितं कृष्णाधिरूढं परम् ।।
षट्० नि० २२-२३

गदाहस्तमेवोज्ज्वलं वेदबाहुम्
प्रभातोदितार्कारुणः स्वप्रकाशः ।
सदापीश्वरोऽस्त्यत्र देवो द्विबाहुः
वराभीतियुक्तोऽमरग्रामवन्द्यः ।।१३।।

कृष्णमृग पर आरूढ वह धूसरवर्ण वायुबीज चार बाहुओं वाला है, इसके एक हाथ में गदा और दूसरे में अंकुश शेष दो हाथों में वरदान-मुद्रा और अभयदान की मुद्रा आभूषण के सदृश विद्यमान हैं, ऐसे देदीप्यमान वायुबीज का ध्यान साधक को करना चाहिए। इस पद्म

के अन्तर्गत प्रातःकाल उदित हुए सूर्य के समान अरुण कान्ति वाले दो बाहुओं से युक्त ईश्वर विराजमान रहते हैं। इन ईश के दो बाहु है, जो वरदान मुद्रा और अभयदान मुद्रा से अलंकृत है। समस्त देव समूह द्वारा वन्दनीय सदाशिव यहां सदा विद्यमान रहते हैं।

समास्तेऽत्र देवीऽपरा काकिनी सा
सदा पीतवस्त्राऽमला पीतवर्णा।
वरं शूलमेवाभयं पाशमब्जैः
भुजैर्बिभ्रती कामरूपातिरम्या ॥१४॥

यहीं अनाहत पद्मगत षट्कोण की कर्णिका में ईश्वर के वाम पार्श्व में परादेवी काकिनी निवास करती है। यह सदा पीत वस्त्र धारण किये हुए स्वयं भी अतिनिर्मल पीतवर्ण वाली है। अत्यन्त रमणीय कामरूपिणी यह देवी काकिनी अपने चार भुजाओं में क्रमशः वरमुद्रा त्रिशूल अभयमुद्रा और पाश धारण किये हुए रहती है। स्वामी पूर्णानन्द के अनुसार एक दूसरी परम्परा में उसके एक हाथ में त्रिशूल के स्थान पर कपाल रहा करता है—देखिए—

'अत्रास्ते खलु काकिनी नवतडित्पीतात्रिनेत्राशुभा,
सर्वालंकरणान्विता हितकारी सम्यग्जनानां मुदा।
हस्तैः पाशकपालशोभनवरान् संबिभ्रतीचाभयं,
मत्ता पूर्णसुधारसार्द्रहृदया कंकालमालाधरा" ॥
[षट्० नि० ३४]

ततः कर्णिकायां रवेर्मण्डलान्तः
त्रिकोणं समास्ते तडित्कोटितुल्यम्।
तदन्तर्मणिस्वोत्तमाङ्गं वराङ्गं
ज्वलद्बाणलिङ्गं नवीनार्कतुल्यम् ॥१५॥

इस अनाहत पद्म की कर्णिका में विद्यमान रविमण्डल के अन्दर करोड़ों विद्युत के मण्डल की कान्ति के सदृश कान्ति वाला त्रिकोण है, उस त्रिकोण के अन्तर्गत मणिमय सछिद्र उर्ध्वभाग वाला शिवलिङ्ग है, जो बाणलिङ्ग कहा जाता है। यह बाणलिङ्ग नवोदित सूर्य के

सदृश जलता हुआ सा प्रतीत होता है।

तुलनीय—

'एतन्नीरजकर्णिकान्तरलसत् शक्तिस्त्रिकोणाभिधा,
विद्युत्कोटिसमानकोमलवपुः सास्ते तदन्तर्गतः।
बाणाख्यः शिवलिङ्गकोऽपि कनकाकाराङ्गरागोज्वलो,
मौलौ सूक्ष्मविभेदयुङ्मणिरिव प्रोल्लासलक्ष्म्यालयः' ॥
[षट्० नि० २५]

तदन्तर्निवातप्रदीपोपमेयः समास्तेऽत्र हंसस्वरूपो हि जीवः।
स तु ध्यायते येन गायत्रिकाञ्चाजपन् तां निरुन्ध्याभवद्ध्वान्तधीरः
॥१६॥

इस बाणलिङ्ग के अन्तर्गत निर्वात प्रदीप ज्योति के सदृश तेजोमय हंसस्वरूप जीव विद्यमान रहता है। जो साधक उस हंस रूप जीव का ध्यान करता है तथा गायत्री का अजपाजप करता रहता है, वह उस बाणलिङ्गस्थ जीव में चित्तवृत्तियों को एकाग्र करके अविद्यारूपी अन्धकार पर विजय प्राप्त कर लेता है।

अनाहत चक्र

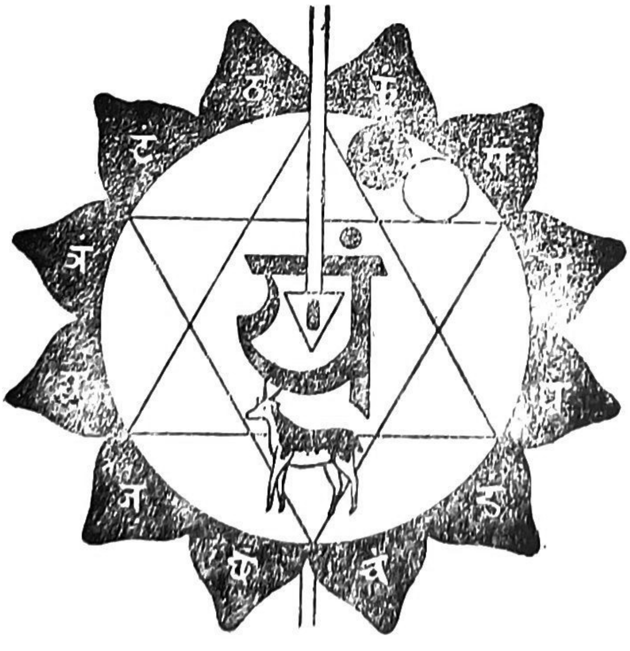

Anahata at the heart centre

अनाहतं पद्ममिदं प्रशस्तं
सदा सुरैः सेवितमेव गुप्तम्।
चन्द्रार्कविद्युत्प्रतिमं प्रदीप्तं
भजन्ति सन्तो मुनयश्च नित्यम्॥१७॥

निरन्तर देवगणों से सेवित, एवं रक्षित, चन्द्र सूर्य एवं विद्युत की समष्टि की कान्ति के सदृश कान्ति वाला यह प्रशस्त अनाहत पद्म है। सन्त और मुनिजन नित्य उसकी उपासना करते हैं।

ध्यानात्करे सिद्धिरनुत्तमा स्याद्
वाणी च वक्त्रे विलसत्यपूर्वा।
लक्ष्मी सदा तस्य च गेहिनीव
पुरप्रवेशे प्रभुरेव धीरः॥१८॥

पूर्वोक्त प्रकार वाले अनाहत नामक हृदय पद्म में ध्यान करने से साधक के हाथ में अणिमा आदि सिद्धियों के साथ ही अति उत्कृष्ट अन्य सिद्धियां भी प्राप्त हो जाती है। उसकी जिह्वा पर अद्भुत सरस्वती निवास करती है। लक्ष्मी सहधर्मिणी के समान निरन्तर उसके निकट रहकर उस योगी की सेवा करती रहती है और परशरीर-प्रवेश अथवा शिवपुर में प्रवेश में वह पूर्ण समर्थ हो जाता है। पूर्णानन्द स्वामी **पुर प्रवेश** अथवा **परपुर** प्रवेश शब्द का अर्थ दुर्ग अथवा शत्रु पक्ष का दुर्ग आदि करते हुए परपुर प्रवेश के लिए कारणभूत **अदर्शन आकाश गमन** आदि की योग्यता प्राप्त होना स्वीकार करते हैं। (परपुरे दुर्गद्वारपालादिना दुर्गीकृतायामपि परपुर्यां प्रवेष्टुं शक्तः; प्रवेशकारणभूतादर्शनाकाशगमनादियोग्यतापन्नो भवतीत्यर्थः। षट्० नि० श्लो० परि० पृ० ३७)।

तुलनीय—

'योगीशो भवति प्रियात्प्रियतमः कान्ताकुलस्यानिशम्,
ज्ञानीशोऽपि कृती जितेन्द्रियगणो ध्यानावधानक्षमः।
गद्यैः पद्यपदादिभिश्च सततं काव्याम्बुधारावहो,
लक्ष्मीरङ्गणदैवतः परपुरे शक्तः प्रवेष्टुं क्षणात्'॥
षट्० नि० २७

न मृत्योर्भयं[1] वा न च व्याधिरेव
न तस्योद्भवो वा न पापैः प्रलिप्तः ।
त्रिलोकेषु पूज्यः स एवेश्वरः स्यान्-
न तस्यास्ति लोके परः पूजनीयः ॥१६॥

अनाहत पद्म में ध्यान सिद्धि के फलस्वरूप इसके जागृत हो जाने पर साधक को न मृत्यु का भय रहता है, न रोग की संभावना रहती है। उसका पुनः जन्म नहीं होता, पाप कर्मों का सम्पर्क भी कभी नहीं होता। वह योगी तीनों लोकों में सर्वपूज्य होता है वस्तुतः वह ईश्वर ही हो जाता है, फलतः उसके समीप विश्व में अन्य कोई भी उसके द्वारा पूजनीय नहीं रह जाता।

विशुद्ध पद्म

ततः कण्ठकूपे विशुद्धाख्यपद्मं
स्वरैर्दीपितं धूमभासं करालम् ।
समास्ते तदन्तर्नभोवृत्तरूपं
लसन्मण्डलं पूर्णचन्द्रप्रकाशम् ॥२०॥

अनाहत पद्म से ऊपर कण्ठ कूप में **विशुद्ध पद्म** है। सोलह पत्रों वाले इस पद्म की प्रत्येक पंखुड़ी क्रमशः अँ आँ इँ ईँ उँ ऊँ ऋँ ॠँ लृँ लॄँ एँ ऐँ ओं औं अँ अः बीजाक्षर अंकित है। इस पद्म का वर्ण धूम के सदृश काला है। इसके अन्तर्गत पूर्णचन्द्र की भांति प्रकाशमान नभोवृत्त अर्थात् आकाश का स्थान है। इस पद्म को विशुद्ध पद्म क्यों कहा जाता? इस प्रश्न के समाधान के प्रसङ्ग में यह स्वीकार किया गया है कि इस स्थल पर ध्यान करने से जीव हंस का साक्षात्कार करके विशुद्ध अर्थात् पूर्ण निर्मल हो जाता है द्रष्टव्य—

"विशुद्धिं तनुते यस्मात्जीवस्य हंसलोकनात् ।
विशुद्धं पद्ममाख्यातमाकाशाख्यं महत्परम् ।"
षट्० नि० श्लो० प० पृ० ३६

---

१. मृत्युर्भयं क ।

सुधाप्लावितं तत्र हँकार बीजं
गजेन्द्रासनस्थं हिमाभोज्ज्वलाङ्गम् ।
वराभीतिपाशाङ्कुशान्येव हस्ते
दधद्दीपितं दीप्तबुद्धिप्रकाशम् ।।२१।।

इस नभो मण्डल में शुभ्र गजेन्द्र पर आसीन सुधा से आप्लावित हिम के सदृश कान्ति युक्त तेजोमय नभोबीज 'हँकार' स्थित है। इस हँकार बीज के चारों हाथों में प्रत्येक में क्रमशः वरदानमुद्रा अभयमुद्रा पाश एवं अंकुश सुशोभित है। यह आकाशबीज निरन्तर योगाभ्यास में लगे हुए विषयानुराग से रहित प्रकाशित बुद्धि वाले साधक के लिए दीपित अर्थात् केवल इस प्रकार के सिद्धियोगियों द्वारा ही अनुभव योग्य है।

तुलनीय—

'विशुद्धाख्यं कण्ठे सरसिजममलं धूमधूम्रावभासम्,
स्वरैः सर्वैः शोणैर्दलपरिलसतैर्दीपितं दीप्तबुद्धेः।
समास्ते पूर्णेन्दुप्रथिततमनभोमण्डलं वृत्तरूपं,
हिमच्छायानागोपरिलसिततनोः शुक्लवर्णाम्बरस्थः ।।'

षट्० निरूषण २८

सदापूर्वकोऽङ्के शिवोऽस्त्यस्य देवः
तुषारोज्वलः पञ्चवक्त्रस्त्रिनेत्रः ।
त्रिशूलं त्रिटंकं कपालं कृपाणं
भुजैर्वज्रदावानलौ नागराजम् ।।२२।।
अभीतिञ्च पाशाङ्कुशौ दिव्यघण्टां
दधद् व्याघ्रचर्मावृतश्चन्द्रचूडः ।
इमं विश्वनाथं सदा भावयेद्यः
करे तस्य सिद्धि र्भवेत् शाश्वतीह ।।२३।।

इस आकाश बीज के अङ्क में तुषार के सदश कान्ति वाले पांच मुखों वाले तीन नेत्रों वाले दश हाथों वाले इसके अधिष्ठातृ देव सदाशिव विराजमान हैं। इनके (सदाशिव के) प्रत्येक हाथ क्रमशः तीन फाल (नोक) वाला त्रिशूल त्रिटंक कपाल वज्र दावानल नागराज अभय-

मुद्रा पाश अंकुश और दिव्यघंटा से सुशोभित हैं।[1] इनका शरीर व्याघ्र चर्म से आवृत है एवं शिर पर अर्धचन्द्र सुशोभित हो रहा है। जो साधक योगी इन विश्वनाथ का निरन्तर ध्यान करते हैं, उनके हाथों में समस्त सिद्धियां नित्य रूप से विराजती रहती है।

ततस्तस्य वामे स्थिता शाकिनी सा
हिमाभोज्ज्वलाङ्गी च पीताम्बराढ्या।
धनुः पाशामब्जैः शरं वेदहस्तैः
सृणिं बिभ्रती पद्मनेत्राऽतिमत्ता ॥२४॥

नभोबीज में स्थित दशभुज सदाशिव के वाम भाग में हिम की भांति शुभ्र उज्ज्वल अङ्गों वाली, पीले वस्त्रों के आवरण से सुशोभित, कमल सदृश चारों हाथों में धनुष् पाश बाण और सृणि अर्थात् अंकुश धारण किये हुए, कमल की भांति वर्त्तुल विशाल नेत्रों वाली अतिशय मदमाती देवी **शाकिनी** विराजमान हैं।

तुलनीय—

'सुधा सिन्धोः शुद्धा निवसति कमले शाकिनी पीतवस्त्रा
शरं चापं पाशं सृणिमपि दधती हस्तपद्मैश्चतुर्भिः ॥'
—(षट्० नि० ३०)

समास्तेऽत्र नित्यं कलङ्केन हीनं
सुधांशोः परं मण्डलं कर्णिकायाम्।
सुनिर्वाणतत्त्वामृतद्वारमेतत्
प्रकाशं करोत्यात्मनो योगिनस्तत् ॥२५॥

इस विशुद्ध पद्म की कर्णिका में अत्यन्त समुज्वल कलङ्क से हीन सम्पूर्ण चन्द्र का मण्डल सदा विराजमान रहता है। यह निष्कलक चन्द्र मण्डल सुनिर्वाण अर्थात् पूर्ण मोक्षरूपी अमृत पद का द्वार है, जिसे,

---

१. शूलं टङ्क-कृपाण-वज्र-दहरान् नागेन्द्र घण्टाङ्कुशान्।
पाशाभीतिकरं दधानममिताकल्पोज्ज्वलाङ्गम्भजे ॥
—(ष० नि० श्लो० परि० पृ० ४१

स्वयं के स्वरूप को, वह स्वयं योगी के अन्तस्तल में साधना के समय प्रकाशित कर देता है।

तुलनीय—

'सुधांशोः सम्पूर्णं शशपरिरहितं मण्डलं कर्णिकायां
महामोक्षद्वारं श्रियमभिमतशीलस्य शुद्धेन्द्रियस्य ॥"

विशुद्ध पद्म

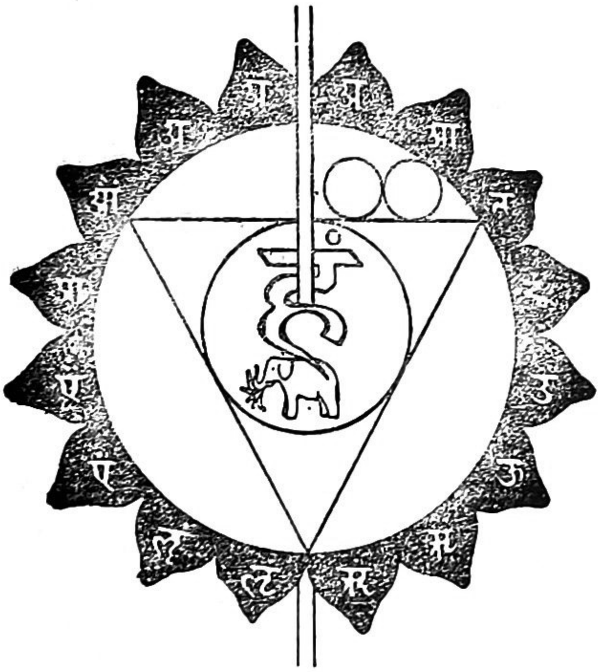

Viśuddha chakra at the throat centre

अत्रैव चित्तं विनिधाय नित्यं
ध्यायेत्परं मोक्षपदं सदा यः।
कर्त्ता च हर्त्ता जगतां मुनीन्द्रः
स सर्वदर्शी खलु रुद्रतुल्यः ॥२६॥

इस पूर्व वर्णित विशुद्ध पद्म में चित्त को स्थिर करके जो साधक परम मोक्ष पद का निरन्तर ध्यान करता है, वह मुनिश्रेष्ठ रुद्र की भांति सर्वज्ञ होकर सकल विश्व का कर्त्ता और संहर्त्ता हो जाता है। पूर्णानन्द सरस्वती के अनुसार इस चक्र के ध्यान से साधक पूर्ण शान्त चित्त (निरुद्ध चित्तवृत्तियों वाला पूर्ण योगी) होकर कवि वाग्मी

ज्ञानी त्रिकालदर्शी अर्थात् सर्वज्ञ सकललोक हितकारी रोगशोक से पूर्णतया मुक्त चिरञ्जीवी अतिशयकवि समस्त विपदाओं को नष्ट करने वाला परब्रह्म रूपी हंस के बोध से युक्त हो जाता है।

द्रष्टव्यः—

'इह स्थाने चित्तं निरवधि निधायात्मसम्पूर्णयोगः
कविर्वाग्मी ज्ञानी स भवति नितरां साधकः शान्तचेताः।
त्रिकालानां दर्शी सकलहितकरो रोगशोकप्रमुक्तः
चिरंजीवी जीवी निरवधिविपदां ध्वंसहंसप्रकाशः॥'

(षट्० नि० ३१)

इस पद्म में कर्णिका में चन्द्रमण्डल आदि की स्थिति निम्नलिखित प्रकार से है—सर्व प्रथम कर्णिका के अन्तर्गत नभोमण्डल है, उसके मध्य में त्रिकोण है, त्रिकोण के अन्तर्गत चन्द्रमण्डल है, चन्द्रमण्डल के अन्तर्गत पुनः नभोबीज रहता है। वैखरी वाक्शक्ति का स्थान भी विशुद्ध चक्र में ही है। देखिये—

"सूक्ष्मा कुण्डलिनीमध्ये ज्योतिर्मात्रा **परा** मता।
अश्रोत्रविषयात्तस्मात् किञ्चिदेवोर्ध्वगामिनी॥
स्वयं प्रकाशा **पश्यन्ती** सुषुम्णा नाभिमाश्रिता।
सैव हृत्पङ्कजं प्राप्य **मध्यमा** नादरूपिणी॥
ततः संजल्पमात्रा स्यात्संविभक्तोर्ध्वगामिनी।
सैवोरुकण्ठतालुस्था शिरोघ्राणरदाश्रिता॥
जिह्वामूलोष्ठनिस्यूता कृतवर्णपरिग्रहा।
शब्दप्रपञ्चजननी श्रोत्रग्राह्या तु वैखरी॥

—(भट्टधृततन्त्र)

आज्ञा-पद्म

**ततः शुभ्रपद्मं भ्रुवोरन्तराले
द्विपत्रं हि हक्षाक्षराभ्यां प्रदीप्तम्।
तदन्त र्ललाटात्मिका कर्णिका च
समास्तेऽत्र चन्द्रोज्ज्वला हाकिनी सा॥२७॥**

विशुद्ध पद्म से ऊपर दोनों भौहों के मध्य 'ह' और 'क्ष' इन दो वर्णों से प्रकाशित **आज्ञापद्म** विद्यमान है। उससे अन्तर्गत ललाटात्मिका अर्थात् प्रणवाक्षर युक्त कर्णिका विद्यमान है। यहां प्रणव ध्वनि 'ॐ'-कार को आदि वर्ण मानते हुए उसे **ललाट** वर्ण कहा गया है।

द्रष्टव्य—

"वेदानामादिबीजं स्थिरतरहृदयश्चिन्तयेत् तत्क्रमेण"
—(षट्० नि० ३३)

'कर्णिकायां वेदादिबीजं प्रणवोऽपि वसतीत्यन्वयः।
—(वही प० ४०)

इस कर्णिका के अन्तर्गत चन्द्र के सदृश उज्ज्वल कान्तिमती हाकिनी शक्ति प्रतिष्ठित है।

तुलनीय—

तालु कण्ठं प्रविश्योर्ध्वं भ्रूयुगान्ते सितं शुभम्।
द्विदलं हक्षवर्णाभ्यां मनोऽधिष्ठितमम्बुजम्॥"
—(षट्० वि० श्लो० परि० पृ० ४५)

'कर्णिकायां त्रिकोणस्थमात्मानं प्रणवाकृतिम्
ज्वलद्दीपनिभं चोर्ध्वं नादरूपं मनोहरम्।
बिन्दुर्मकाररूपञ्च तदूर्ध्वं मानसालयः॥'
—(षट्० नि० पृ० ४७)

षडास्यैरुपेता सुशुभ्राम्बराढ्या
करै र्ज्ञानमुद्रां दधाना कपालम्।
स्रजं डिण्डिमं योगमाता हि नित्या
लसद्रत्नभूषोज्ज्वला चातिदीप्ता॥२८॥

आज्ञाचक्र की कर्णिका में छ मुखों वाली अतिशय शुभ्र (श्वेत) वस्त्रों से सुशोभित अपने छ हाथों में क्रमशः ज्ञान का प्रतीक पुस्तक, मुद्रा अर्थात् वरमुद्रा और अभयमुद्रा, कपाल, जपमाला और डिण्डिम अर्थात् डमरु को लिये हुए तथा नित्य धारण किये हुए रत्न आभूषणों अर्थात् शरीर के अङ्ग भूत रत्न आभूषणों से सुशोभित और उज्ज्वल

अति दीप्त अर्थात् तेजोमयी चन्द्रमा के सदृश कान्तिवाली हाकिनी शक्ति विराजमान है।

तुलनीय—

'तन्मध्ये हाकिनी सा शशिसमधवला वक्त्रषट्कं दधाना
विद्यां मुद्रां कपालं डमरुजपवटीः बिभ्रती शुद्धचित्ता।'
—(ष० नि० ३२)

(हाकिनी ध्यान फल—)

ध्यानान्मुनीन्द्रो भवतीह लोके, पूज्यो नृपाधीश्वरमौलिवन्द्यः।
शास्त्रेषु वागीश्वर एव वक्ता, कर्त्ता त्रयाणां जगतां च शास्ता ॥२६॥

इस ऊपर वर्णित महाशक्ति स्वरूपा हाकिनी का ध्यान करने से साधक मुनि लोक में सर्वपूज्य, राजा महाराजाओं के द्वारा भी वन्दनीय, साक्षात् बृहस्पति के समान समस्त शास्त्रों का वक्ता अर्थात् प्रवचन में पूर्ण समर्थ विद्वान्, तथा तीनों लोकों का कर्त्ता और शासन करने वाला हो जाता है।

अत्राऽऽस्तेऽनिलहीनदीपकलिकाकारं मनोनिर्मलं
लिङ्गं तत्परकर्णिकान्तविलसद् योनौ तु वेदादिकम्।
बीजं चेतरसंज्ञकं प्रविलसत् सौदामिनी-सन्निभम्
तस्यान्तः परिभाति दीपसदृशो देवोन्तरात्मा महान् ॥३०॥

इस आज्ञा पद्म की कर्णिका में निर्वात दीपकलिका के समान निर्मल और निश्चल मन का प्रतीक (लिङ्ग रूप) ज्योति लिङ्ग विद्यमान है और उस कर्णिका के अन्दर ही योनि (ज्योति लिङ्ग स्वरूप मन की योनि) के रूप में वेदबीज प्रणवाक्षर विद्यमान है। साथ ही विद्युत् के सदृश कान्तिमत् इतर लिङ्ग सुशोभित हो रहा है। यहां 'इ—कालं तरति इति इतरम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'इतर' पद कालजयी परम शिव का वाचक है। इतर लिङ्ग के रूप में **परशिव** ही इस पद्म के अधिष्ठातृ देवता है। जैसा कि **ताराषोढान्यासाधिकार तन्त्र** में कहा है मूलधार स्वाधिष्ठान मणिपूर अनाहत विशुद्ध और आज्ञा पद्मों के क्रमशः ब्रह्मा विष्णु रुद्र ईश्वर सदाशिव और परशिव अधिष्ठातृ

देवता हैं (**"ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिव:। ततः पर शिवो देवि षट् शिवा: परिकीर्त्तिता:॥**) आनन्द लहरी में भी आज्ञा पद्म की अधिष्ठातृ देवता परशिव है, यह ही स्वीकार किया गया है (**'तवाज्ञाचक्रस्थं तपनशशिकोटिद्युति धरम्, परंशम्भुं वन्दे परिमिलित-पार्श्वं परचिता।'**)। इस प्रकार यहां 'इतर' पद से 'परशिव' अर्थ ही लिया जाता है। तदन्तर उसके अन्तर्गत अत्यन्त कान्तिमान् दीपक शिखा के समान परम महान् अन्तरात्मा विष्णु स्थित रहते हैं। इस प्रकार सबके मूल में अन्तरात्मा के समान राम पद वाच्य विष्णु का आवास होने से इसे आत्मतत्त्व **विष्णु का स्थान** भी कहा जाता है।

आज्ञा पद्म

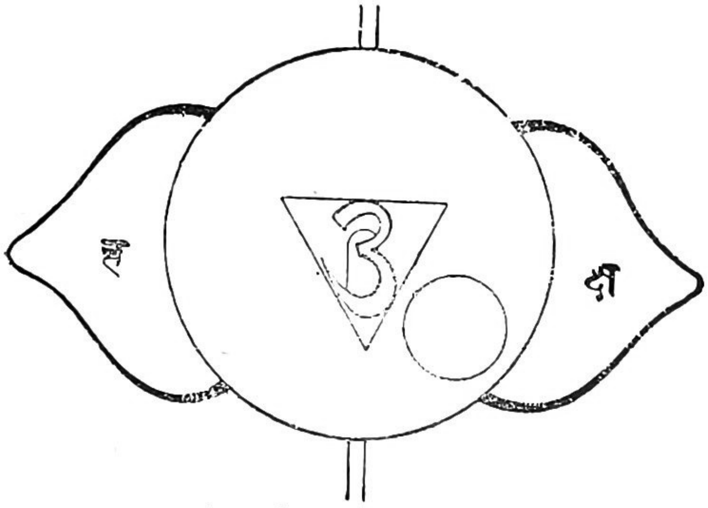

Ajna ch... ra between the eyebrows

तुलनीय—

'एतत्पद्मान्तराले निवसति च मनः सूक्ष्मरूपं प्रसिद्धं
योनौ तत्कर्णिकायामितरशिवपदं लिङ्गचिह्नप्रकाशम्।
विद्युन्माला विलासं परमकुलपदं ब्रह्मसूत्रप्रबोधम्
वेदानामादिबीजं स्थिरतरहृदयश्चिन्तयेत्तत्क्रमेण॥

(षट्० नि० ३३)

ज्वलद्दीपाकारं तदनु च नवीनार्कबहुल—
प्रकाशं ज्योतिर्वा गगनधरणीमध्यमिलितम्।

इह स्थाने साक्षाद् भवति भगवान् पूर्णविभवो—
ऽव्ययः साक्षी वह्नेः शशिमिहिरयोर्मण्डलमिव ।।
—(षट्० नि० ३६)

इह स्थाने विष्णोरतुलपरमामोदमधुरे ०" —(षट्० नि० ३८)

आज्ञापद्म-ध्यानफल

इत्थं यो यतिनायकः प्रतिदिनं (देवाधि देवा)[1]-सनम्
ज्ञात्वा श्री गुरुदेववक्त्रकमलाद् ध्यायेद् धिया योगवित् ।
स स्याद् योगविशारदः कविवरो वागीश्वरश्चामरः
शास्त्रे वागिव सर्वलोकजनकः सर्वत्रगामी प्रभुः ।।३१।।

इस प्रकार जो योगी देवाधिदेव परशिव एवं उनके भी मूल में परम आत्म तत्त्व के आसनभूत इस पद्म को गुरु के मुख कमल से जानकर प्रतिदिन एकाग्रचित्त एवं स्थिर बुद्धि होकर ध्यान करता है, वह योग विद्या का पूर्ण ज्ञाता योग अभ्यास में कुशल काव्यरचना में परम प्रवीण वाणी का अधीश्वर समस्तशास्त्रों का वक्ता समस्त लोकों के निर्माण एवं संहार में समर्थ सर्वत्र पहुंचने के सामर्थ्य वाला और सर्व समर्थ हो जाता है।

षट्चक्र निरूपण में स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती ने इस पद्म के ध्यान के निम्नलिखित फल निर्दिष्ट किये हैं। उनके अनुसार इस पद्म में ध्यान से साधक परपुरगामी, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सकल लोक हितकारी, समस्त शास्त्रों के अर्थ को जानने वाला, अद्वैत भावपूर्ण, आचार का सहज वक्ता, दीर्घायु, त्रिभुवन की सृष्टि पालन एवं संहार में समर्थ हो जाता है।[2] इतना ही नहीं प्राण प्रयाण (मृत्यु) के समय जो साधक इस पद्म में प्राणों को आरोपित कर लेते हैं, वे विष्णु के परम पद को प्राप्त कर

---

१. कोष्ठगत पाठ खण्डित का स्वयं उद्धार है।

२. ध्यानात्मा साधकेन्द्रो भवति परपुरे शीघ्रगामी मुनीन्द्रः
सवज्ञः सर्वदर्शी सकलहितकरः सर्वशास्त्रार्थवेत्ता ।
अद्वैताचारवादी विलसति परमापूर्वसिद्धिप्रसिद्धो
दीर्घायुः सोऽपि कर्त्ता त्रिभुवनभवने संहृतौ पालने च ।।
— षट० नि० ३४

लेते हैं।[1]

ततोऽर्धेन्दु खण्डं सहस्रारपद्माद्
अधश्चातिशुभ्रोज्ज्वलं दीप्यमानम्।
तदूर्ध्वे तु बिन्दुस्वरूपी मकारः
परं शीतलाम्भोज्ज्वलं सैव गेहः ॥३२॥

आज्ञाचक्रान्तर्गतळकारलसित त्रिकोण के ऊपर सहस्रारपद्म से नीचे अतिशुभ्र उज्ज्वल देदीप्यमान अर्धचन्द्र-खण्ड है, उस इन्दु खण्ड के ऊपर बिन्दुरूप में मकार है। जो परमशीतल जल अर्थात् हिम के सदृश उज्ज्बल है। यह बिन्दु रूपी मकार ही परमेश विष्णु का गृह है।

तदूर्ध्वे हि नादोऽमृताप्लावितोऽसौ
परं सूक्ष्मतेजोवदातोऽच्युताक्षः।
सदा ध्यानतोऽस्यामरश्रेणिवन्द्यो
भवेन्मानवोऽपीश्वरो योगविज्ञः ॥३३॥

इस बिन्दुरूपी मकार के ऊपर महानाद का स्थान है। यह महानाद अमृत से आप्लावित है और अतिशय सूक्ष्म तेज से अवदात अर्थात् समस्त विकारों से रहित है। इस महानाद में निरन्तर ध्यानस्थ होने से साधक अक्षय इन्द्रियों वाला, पूर्ण जितेन्द्रिय देवताओं की शोभा और गौरव को प्राप्त करने वाला, सभी देवों और मानवों का वन्दनीय, समस्त योगविद्या के रहस्यों को जानने वाला और मानव शरीर में रहते हुए भी ईश्वरभाव में प्रतिष्ठित हो जाता है।

प्रपूर्णेन्दुभानूज्वलं विष्णुगेहं
सदा योगिभि र्ध्येयमत्यन्तगुप्तम्।

---

१. इह स्थाने विष्णोरतुलपरमामोदमधुरे,
समारोप्य प्राणं प्रमुदितमनाः प्राणनिधने।
परं नित्यं देवं पुरुषमजमाद्यं त्रिजगताम्,
पुराणं योगीन्द्रः प्रविशति च वेदान्तविदितम् ॥

—षट० नि० ३८

इदं पारतत्त्वस्वरूपं हि तत्त्वं
सदा ध्यानतो विष्णुतुल्यो यतिः स्यात् ॥३४॥

परिपूर्ण चन्द्र एवं सूर्य के समवेत प्रकाश के सदृश प्रकाश से उज्ज्वल यह विष्णु गेह, अत्यन्त गुप्त परमत्त्व के भी तत्त्व रूप होने से योगिजनों के लिए निरन्तर ध्येय है। जो साधक निरन्तर इसका ध्यान करता है, वह इसके ध्यान के फलस्वरूप स्वयं विष्णु के सदृश हो जाता है।

अस्मिन्ब्रह्ममुखान्तरालकुहरे बद्ध्वा निरालम्बिकाम्
मुद्रां श्रीगुरुसेवया सुविदितां पश्येद्धि वह्नेः कलाम्।
तन्मध्ये परिपश्यति क्रमवशात् कान्तान् लकूर्वान्पदान्।
पश्चाज्ज्योतिबलं हि पश्यति रवेरेकं तु बालस्य तत् ॥३५॥

ब्रह्मनाडी सुषुम्णा के इस ऊर्ध्वस्थ मुख के अन्तश्छिद्र में गुरु सेवा से प्राप्त हुई, निरालम्बिका मुद्रा[1] को लगाकर इस स्थान आज्ञा चक्र पर प्रथम वह्नि कला अर्थात् ज्योति का दर्शन करे। तदनन्तर साधक उस ज्योति के अन्दर 'ल' अर्थात् ल पदवाच्य पृथिवी से लेकर 'क' अर्थात् स्थूल आकाश तत्त्व पर्यन्त सभी तत्त्वों का दर्शन करते हुए और अन्त में पुनः बाल सूर्य के रूप में एक तत्त्वात्मक ज्योतिबल अर्थात् मनस्तत्त्व के रूप में परम तत्त्व का साक्षात्करे। तुलनीय—

'इह स्थाने लीने सुसुखसदने चेतसि परं
निरालम्बाम्बद्ध्वा परमगुरुसेवासमुदिताम्।
तदभ्याद् योगी पवनसुहृदां पश्यति कलाम्॥
—(षट्० नि० ३६)

स्थानेऽस्मिन् शशिसूर्यमण्डलमहाज्योतिर्मये चिन्मये
विष्णुः श्रीपतिरेव तस्य भगवान् व्यक्तो भवेदव्ययः।
स्थाने यः खलु मारुतं सितमनाः प्राणं समारोप्य च
पञ्चत्वे विशतीह देवममलं वेदान्तवेद्यं प्रभुम् ॥३६॥

---

१. निरालम्बिकामुद्रा का परिचय पृ० ९१ पर पाद टिप्पणी में देखें।

आज्ञाचक्र में ध्यान करने के क्रम में पृथिवी आदि तत्त्वों में चित्त की एकाग्रता के द्वारा पृथिवीधारणा जलधारणा आग्नेयधारणा वायवीयधारणा एवं आकाशधारणा सम्पन्न करके आज्ञाचक्र में ज्योति में पुनः इन एक एक तत्त्व का साक्षात्कार करने के अनन्तर इसी स्थान में चन्द्र सूर्य मण्डल के समवेत प्रकाश से युक्त ज्योतिर्मय चित्तत्त्व (मनस्तत्त्व) में श्रीपति अव्यय भगवान् विष्णु का साक्षात्कार होता है। तुलनीय—

ज्वलद्दीपाकारं तदनु च नवीनार्कबहुल—
प्रकाशं ज्योतिर्वा गगनधरणीमध्यमिलितम्।
इह स्थाने साक्षाद् भवति भगवान् पूर्ण विभवो—
ऽव्ययः साक्षी वह्नेः शशिमिहिरयोर्मण्डल इव।"
—(ष० नि० ३७)

निर्मल चित्त होकर जो साधक इस आज्ञाचक्र में वायु और प्राणों को पहुंचाकर वहां स्थिर करते हुए मृत्यु को प्राप्त होता है, वह समस्त काय-व्रण-स्नायु आदि मलों से रहित वेदान्त वेद्य देव प्रभु में लीन हो जाता है। तुलनीय—

'इह स्थाने विष्णोरतुलपरमामोदमधुरे
समारोप्य प्राणं प्रमुदितमनाः प्राणनिधने।
परं नित्यं देवं पुरुषमजमाद्यं त्रिजगताम्
पुराणं योगीन्द्रः प्रविशति च वेदान्तविदितम्॥
—(षट्० नि० ३८)

विष्णुं श्री पुरुषोत्तमं त्रिजगतामाद्यन्तमूर्ध्वं ततो
नादं शुद्धतुषारशीतलकरद्योतं शिवार्धं शिवम्।
शान्तं भीतिहरं वराभयकरं ध्यात्वाऽऽदिदेवं विभुम्
तस्याष्टौः खलु सिद्धयः करतले पूज्यस्त्रिलोके कविः॥३७॥

इस भांति इस आज्ञापद्म में त्रिलोकी के आदि और अन्तभूत श्री पुरुषोत्तम विष्णु को, तदनन्तर शुद्ध तुषार की भांति शीतल किरणों की कान्ति वाले, शिवा पार्वती जिनकी अर्धाङ्गिनी है, उन अर्धनारीश्वर

शान्त और भयहारी, वरदान एवं अभयदान मुद्रायुक्त, सर्वव्यापक आदि देव शिव को ध्यान करने से समस्त सिद्धियां उसके करतल में रहती हैं, वह कवि तथा त्रिलोक पूज्य होता है।

सहस्रार पद्म

विसर्गादधस्थं सहस्रारपद्मं,
लसत्कुङ्कुमारक्तकिञ्जल्कपुञ्जम् ।
अधोवक्त्र - पञ्चाशदर्णाढ्यपत्रं,
तुषारोज्ज्वलं तत्स्वरूपं प्रदीप्तम् ।।३८।।

आज्ञा पद्म के बाद सहस्रार पद्म की स्थिति का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि इस सहस्रार पद्म की स्थिति विसर्ग के नीचे है। तन्त्र योग में विसर्ग शब्द प्रकृति तत्त्व का वाचक है (बिन्दुः प्रकृति रित्युक्तो विसर्गः प्रकृतिर्मतः। आगमकल्पद्रुम (षट्०नि० श्लो० परि० पृ० ७८ एवं पादुका पंचक-अमला पृ० १३५ से उधृत)। यह महा-शक्ति रूपा प्रकृति सहस्रार पद्म को ऊपर से धारण करती है (**विसर्गस्य सहस्रारपद्मधारिण्या ऊर्ध्वं स्थितायाः शक्तेरधः पद्मम्।** षट्० नि० श्लो०परि० पृ० ११८)। इन्हें विसर्ग अथवा बिन्दुद्वय इसलिए कहा जाता है कि यहां पर स्थित त्रिकोण के ऊर्ध्व बिन्दुद्वय के रूप में सूर्य और चन्द्र की स्थिति स्वीकार की जाती है।

'विसर्गस्तु त्रिकोणोर्ध्ववर्त्ति चन्द्रसूर्यरूप बिन्दुद्वयम्।'
—(ललिता रहस्य १३५)

स्मरणीय है कि तृतीय अधोबिन्दु को अग्नि रूप तथा इनकी संयोजक रेखाओं को तन्त्रशास्त्र में ब्रह्मा बिष्णु और शम्भु के रूप में स्वीकार किया जाता है।

"सूर्यश्चन्द्रस्तथा वह्निरिति बिन्दुत्रयं भवेत्।
ब्रह्मा विष्णुस्तथा शम्भुरिति रेखात्रयं मतम्।"
(माहेश्वरी संहिता—पादुका पञ्चक अमला पृ० १३५ से उद्धृत)

इसमें स्थित किञ्जल्क अर्थात् कर्णिका मण्डलस्थित परागपुञ्ज

कुङ्कुमवर्ण के सदृश आरक्त है, जो इस पद्म को सुशोभित कर रहा है। इसमें आधार अर्थात् आधार पद्म के पत्र संख्या चार से गुणित पांच अर्थात् (४ × ५ = २०) बीस बार पचास (२० × ५० = १००) अर्थात् कुल एक सहस्र पत्र विद्यमान हैं। इस पद्म और तद्गत पत्रों का वर्ण तुषार की भांति उज्ज्बल अर्थात् अति शुभ्र, साथ ही अत्यन्त देदीप्यमान है। तात्पर्य यह है कि विसर्ग के नीचे सहस्रार पद्म है, जिसके मध्य में स्थित कुकुम की भांति आरक्त पराग (किञ्जल्क) पुञ्ज उसको सुशोभित कर रहा है। 'इसमें तुषार (हिम) के समान अतिशुभ्र उज्ज्वल एक हजार पत्र' हैं तथा इसका स्वरूप अत्यन्त देदीप्यमान है। तुलनीय—

'विसर्गाधः पद्मं दशशत दलं पूर्णचन्द्रातिशुभ्रम्।
अधोवक्त्रं कान्तं तरुणरविकलाकान्तिकिञ्जल्कपुंजम्।''
(षट्० नि० ४०)

तदन्तः समास्ते हि चन्द्रः प्रपूर्णः
स्फुरद् भानुजालोज्ज्वलश्चाङ्कहीनः[1]।
तदन्तस्त्रिकोणं लसद् विद्युदाभं
परं मातृकार्णात्मकं योगिगम्यम्[2] ॥३९॥

इसकी कर्णिका के अन्तर्गत उदीयमान सूर्य मण्डल की भांति उज्ज्वल देदीप्यमान कलङ्क से रहित सम्पूर्ण चन्द्रमा विद्यमान रहता है। कङ्कालमालिनी तन्त्र के अनुसार सहस्रदल कमल की कर्णिका में अन्तरात्मा की स्थिति है। उसके अन्तर्गत गुरु तथा सूर्य और चन्द्र मण्डल की स्थिति है (**तत्कर्णिकायां देवेशि अन्तरात्मा ततो गुरुः। सूर्यस्य मण्डलं तत्र चन्द्रमण्डलमेव च।**—कङ्काल मालिनी तन्त्र) किन्तु पूर्णानन्द सरस्वती सूर्य और अन्तरात्मा की स्थिति की चर्चा न करके निष्कलङ्क चन्द्र का ही पूर्वोक्त प्रकार से वर्णन करते हैं।

(द्रष्टव्य—**समास्ते तस्यान्तः शशपरिरहितः शुद्धसम्पूर्णचन्द्रः।**
स्फुरज्ज्योत्स्नाजालः परमरसचयस्निग्धसन्तानहासी।
—(षट्० नि० ४१)

---

१. °चाङ्कहीनः क   २. योगगम्नम् क

इस चन्द्र मण्डल के नीचे अतिशत कान्तियुक्त विद्युत् के सदृश कान्ति वाला एक अत्यन्त गुप्त अतएव योगियों द्वारा ही जानने योग्य मातृकार्णात्मक अर्थात् बिन्दु रूपात्मक त्रिकोण है।

तुलनीय—

'त्रिकोणं तस्यान्तः स्फुरति च सततं विद्युदाकार रूपम्।
तदन्तः शून्यं तत्सकलसुरगणैः सेवितं चातिगुप्तम्।'
—(षट्० नि० ४१)

तदन्तः समास्ते हि तेजः स्वरूपं
रवीन्द्वग्निविद्युज्ज्वलं कन्दमेकम्।
लसद् द्वादशार्णावृतं वाग्भवाख्यं
परं स्थानमेतद्धि कैलासनामः[1] ॥४०॥

इस कर्णिकान्तर्गत त्रिकोण में एक अतिशय तेजोरूप सूर्य चन्द्र अग्नि विद्युत की समष्टि के समान अत्यन्त उज्ज्वल बारह वर्णों अर्थात् स-ह-ख-फ्रें-ह-स-क्ष-म-ल-व-र-य वर्णों वाला गुरुमन्त्र नामक एक

सहस्रार पद्म

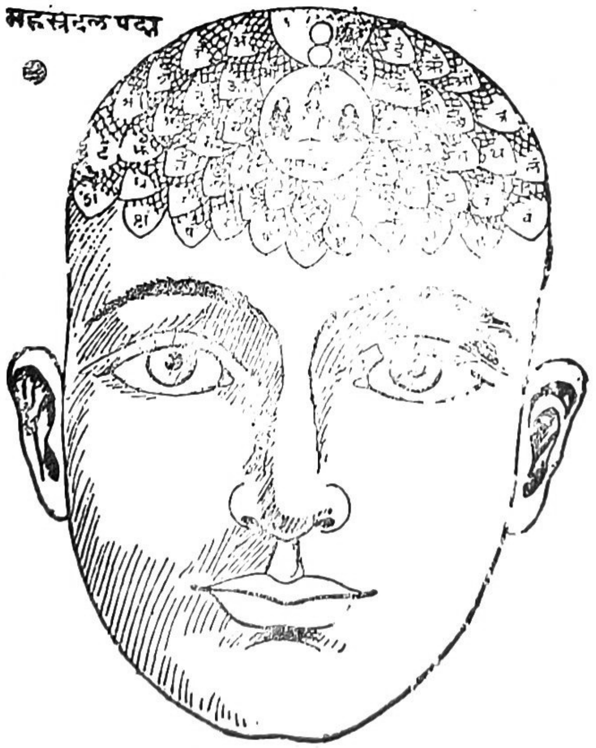

Sahasrara chakra

१. नासः क.

तेज: कन्द विद्यमान है। जो स्थान कैलाश नाम से प्रसिद्ध है, एवं परम् शिव का वास स्थल है।

तदूर्ध्वे हि बिन्दुस्वरूपो महेशः
सदा ज्ञानमोहान्धहंसप्रकाशः।
लसत्प्रेमधारोद्धताऽपूर्वशोभः
स्वयं ब्रह्मनिर्वाणतत्त्वस्वरूपः ॥४१॥

इस उपर्युक्त मातृकार्ण रूप तेज: कन्द के ऊपर निरन्तर अज्ञान मोह रूपी अन्धकार के लिए परम प्रकाशरूप, निरन्तर प्रवहमान प्रेम रस के प्रवाह से अतिशय शोभायमान, स्वयं ब्रह्मानन्द के सार के सदृश बिन्दु रूप में महेश का निवास है।

तुलनीय—

'इह स्थाने देवः परमशिवसमाख्यानसिद्धः प्रसिद्धः।
स्वरूपी सर्वात्मा रसविरसमितोऽज्ञानमोहान्धहंसः॥'
—(षट्० नि० ४२)

अस्मिन्पारमहंसशुद्धसदने चेतो निरालम्बया
प्राणं तत्र निधाय मोक्षपदवीं गच्छन्त्यलं योगिनः।
ध्यानादस्य पुनः पुनः सितमना हंसः सुरूपो भवेत्
कालेनैव तु नीयते नहि कदा संक्षीयते संक्षये ॥४२॥

परमहंस रूप महेश के आवास भूत इस परम निर्मल स्थल में निरालम्ब मुद्रा के[1] साथ ध्यान साधना के द्वारा अर्थात् विषय हीन ध्यान साधना (ध्यानं निर्विषयम्मनः। सां० सू० ६।२५) के द्वारा जो

---

१. निरालम्बामुद्रा
तन्त्र शास्त्र में **निरालम्बा** एक मुद्रा का नाम है उसकी साधना के लिए साधक अपने अंगों को पूर्णतया ढ़ीला छोड़कर मन को सभी चिन्ताओं से मुक्त करके अपनी दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर केन्द्रित करे, मुख को थोड़ा सा इस प्रकार खोले कि ऊपर नीचे के दांतों का स्पर्श न रहे, अब जिह्वा को दांतों के बीच में करते हुए चित्त को (मन को) समस्त विचारों से दूर करे, इसे निरालम्बा मुद्रा कहते हैं।

योगी चित्त एवं प्राण को स्थापित कर लेते हैं,[1] वे अविलम्ब मोक्षपद को प्राप्त कर लेते हैं तथा इस परमहंस के शुद्ध सदन का ध्यान करने से निर्मल चित्त हंस अर्थात् जीव सुरूप अर्थात् परमहंस हो जाता है। उसे महाकाल स्वयं आत्मसात्‌कर लेते हैं, फलतः प्रलय काल में भी कभी उसका विनाश नहीं होता है।

बालार्कारुणमण्डलाकृतिपरा यास्ते कला षोडशी
चन्द्रस्यात्र तुषारहारधवला नित्योदिताऽधोमुखी।
दिग्बालार्कसमुज्ज्वलाति विगलत् तत्त्वाम्बुधारा धरा
केशाग्रस्य विखण्डितस्य शतधा भागैकरूपा परा॥४३॥

चन्द्रमा की, प्रातःकालीन उदीयमान अरुण सूर्य मण्डल की आकृति वाली जो षोडशी कला मानी जाती है, उससे सर्वथा भिन्न तुषार अर्थात् हिम एवं हार अर्थात् मुक्ता-हार के सदृश अति उज्ज्वल अधोमुखी नित्य उदित सुदूर ऊर्ध्वदिग्भाग में विद्यमान सूर्य के समान अतिशय तेजोमय, निरन्तर प्रवहमान तत्त्वाम्बुधारा को धारणकरने वाली, केशाग्र के शतधा विखण्डित करने पर उसके एक भाग के समान अतिशय सूक्ष्म इस चन्द्रमण्डल की सप्तदशी कला है।

तुलनीय—

"तत्कर्णिकायां देवेशि अन्तरात्मा ततो गुरुः।
सूर्यस्य मण्डलं तत्र चन्द्रमण्डलमेव च॥
....

तस्याधस्ताच्च देवेशि चन्द्रमण्डलमध्यगम्।
त्रिकोणं तत्र संचिन्त्य क्षयहीनात्मिका कला।
तन्मध्ये कुटिला निर्वाणाख्या सप्तदशी कला॥"
(कङ्कालमालिनी तन्त्र)

---

१. इस प्रसंग में तारक अमनस्कयोगगत सिद्ध गुरु का लक्षण द्रष्टव्य है—
'दृष्टिः स्थिरा यस्य विनैव दृश्याद्,वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नात्।
चित्तं स्थिरं यस्य विनाऽवलम्बात्स एव योगी स गुरुः स सेव्यः॥'
—(अमनस्कयोग—२·४५

तन्मध्ये विसतन्तुखण्डशतधाभागैकरूपा परा
निर्वाणाख्यकलार्धचन्द्रकुटिला नित्या तु साऽधोमुखी।
बालादित्यशतोज्ज्वलाऽमृतमयी कोटीन्दुविद्युच्छटा
नित्यानन्दगलच्छल द्रसरसाऽऽनन्दाऽलिधारा धरा ॥४४॥

पूर्वोक्त सप्तदशीकला का विवरण ही अग्रिम श्लोक में पुनः निबद्ध है—

उस चन्द्रमण्डल के मध्यगत त्रिकोण में विसतन्तु अर्थात् कमलनाल में विद्यमान एक तन्तु के यदि एक सौ खण्ड किये जाएं तो उसके एक तन्तु भाग के समान अति सूक्ष्म निर्वाण (मोक्ष) नाम की यह सप्तदशी कला अर्ध चन्द्र के समान कुटिल नित्य अधोमुखी, एक साथ उदीयमान शताधिक सूर्य के समान अतिशय तेजोमयी, करोड़ों चन्द्र और विद्युत की समष्टि के समान शोभायमान, नित्य एकरस रहने वाली सब ओर प्रवहमान आनन्द के स्रोत के सदृश, तथा आनन्द के समूह की धारा को धारण करने वाली यह सत्रहवीं कला है।

निर्वाण कला का वर्णन स्वामी पूर्णानन्द ने इस प्रकार किया है—

"अत्रास्ते शिशुसूर्यसोदरकला चन्द्रस्य या षोडशी
शुद्धा नीरजसूक्ष्मतन्तुशतधा भागैकरूपा परा॥
विद्युत्कोटिसमानकोमलतनू विद्योतिताऽधोमुखी
नित्यानन्दपरम्परातिविगलत्पीयूषधाराधरा॥'
'निर्वाणाख्यकला परा परतरा सास्ते तदन्तर्गता।
केशाग्रस्य सहस्रधा विभजितस्यैकांशरूपा सती।
भूतानामधिदैवतं भगवती नित्यप्रबोधोदया
चन्द्रार्धाङ्गसमानभङ्गुरवती सर्वार्कतुल्य प्रभा॥'
'एतस्या मध्यदेशे विलसति परमापूर्वनिर्वाणशक्तिः
कोट्यादित्यप्रकाशा त्रिभुवनजननी कोटिभागैकरूपा
केशाग्रस्याति सूक्ष्मा निरवधिविगलत्प्रेमधाराधरा सा
सर्वेषां जीवभूता मुनिमनसि मुदा तत्त्वबोधं वहन्ती॥"

—(षट् चक्र निरूपण ४६-४८)

तन्मध्ये परिभाति कोटि शशभृत् कोट्यर्कविद्युत्प्रभा।
नित्यानन्दमयीति या निगदिता निर्वाणशक्तिः परा।
लूतातन्तु विखण्डितस्य शतधा भागैकतुल्या तु सा
निर्वाणामृतपूरितामृतमयी विश्वैकबीजं महः ॥४५॥

पूर्वोक्त सप्तदशी कला का विवरण पुनः इस पद्य में निबद्ध है :—

उसके मध्य में करोड़ों चन्द्र सूर्य एवं करोड़ों विद्युत् की प्रभा से समन्वित नित्या आनन्दमयी मकड़ी के जाले को मोटाई में शतधा खण्डित करने पर उसके एक भाग के समान अत्यन्त सूक्ष्म सप्तदशी कला है। इसे ही **परानिर्वाणशक्ति** भी कहा जाता है। यह निर्वाण अर्थात् मोक्ष रूपी अमृत से परिपूर्ण अतएव अमृतमयी है। यही सप्त-दशी कला सकल चराचर विश्व की उत्पत्ति के लिए एकमात्र बीज भूत परम तेज (महः) है।

अत्रानन्दपदं वदन्ति मुनयो विष्णोः पदं शाश्वतम्[1]
शैवाः शैवपदं हरीश्वरपदं केचित्तु तं नैष्कलम्।
देवीपादसरोजनिर्मलधियो देव्याः पदं तन्मयम्
निर्वाणाख्यपदं हि चैतदपरे स्त्रीपुंसयोश्चापरे[2] ॥४६॥

इस पूर्वोक्त सप्तदशी निर्वाण कला को मुनिजन **आनन्दपद** कहते हैं, अन्य अर्थात् वैष्णव परम्परा के सन्त इसे **विष्णु का शाश्वत पद** कहते हैं। शैव साधक इसे **शिवपद** मानते हैं। तो अन्य परम्परा के लोग **हरिहर का पद** मानते हैं। किसी परम्परा में इसे **निष्कलब्रह्म का पद** कहते हैं, तो देवी भगवती के चरण कमलों की उपासना करने वाले इसे **देवी का पद** स्वीकार करते हैं। एक अन्य परम्परा इसे **निर्वाण-पद** मानती है। तो किसी अन्य परम्परा के लोग स्त्री पुरुष स्वरूप **अर्धनारी-**

---

१. सात्त्वतम् क

२. देव्यानन्दपदारबिन्दभजनानन्दैकब्रह्मोन्विदम्
देव्याः पादमशेषशास्त्रनिपुणाः स्त्रीपुंसयोश्चाव्ययम् ॥
—क पुस्तक में ही यह पाठ अतिरिक्त संकलित हैं।

श्वर अथवा प्रकृति पुरुष का पद स्वीकार करते हैं। तुलनीय—

"तस्याः मध्यान्तराले शिव-पदममलं शाश्वतं योगिगम्यम्
नित्यानन्दाभिधानं सकलसुखमयं शुद्धबोधस्वरूपम्।
केचिद् ब्रह्माभिधानं पदमिति सुधियो वैष्णवं तल्लपन्ति
केचिद् हंसाख्यमेतत्किमपि सुकृतिनो मोक्षमात्मप्रबोधम्" ॥

(षट्० नि० ४९)

**'अत्रैवाच्युतपदवीं धीरा जपन्त्यच्युतभजनगभीराः।
मन्यन्ते शिवपदवीं शैवास्त्वपरे हरिहरपदवीं देवाः।
केचित् ब्रह्मपदवीं नित्यं केचिद् हंसस्य परे सत्यम्
देव्याः पदवीं कृतिनो भक्ताः पुरुषप्रकृतिस्थानमुक्ताः' ॥**

[पूर्व पद्य में कथित अर्थ को ही इस पद्य में पुनः शब्दान्तर से दुहराया गया है। अतः यह पद्य वीरेश्वर के वाद किसी प्रतिलिपि कार ने समान्तर देखकर तुलनीय के रूप में संयुक्त कर दिया है अतः इसे प्रक्षिप्त पद्य समझना चाहिए।] पद्य का अर्थ निम्नलिखित है :—

'अच्युत नाम से विश्रुत भगवान् विष्णु के अनन्य भक्त इस निर्वाण **पद** को **अच्युत पद** कहते हैं। शिव के उपासक इसे **शिव पद** मानते हैं। अन्य देवगण इसे **हरिहर पद** के नाम से जानते हैं। वेदान्तज्ञान के तत्त्वज्ञ इसे ही ब्रह्मपद, अन्य लोग **हंस का पद**, देवी के विज्ञभक्त **देवी का पद** तथा सांख्य शास्त्र का अभ्यास करने वाले साधक लोग इसे ही पुरुष-प्रकृति का स्थान स्वीकार करते हैं।

**इदं तत्त्वमत्यन्तगुह्यं मयोक्तं
सदा योगिनां ध्यानगम्यं सुरम्यम्।
शिवेनात्मजेनाच्युतेनापि नित्यं
परं ध्यायते ब्रह्मनिर्वाणतन्त्रम् ॥४७॥**

ऊपर वर्णित **निर्वाण कला** नामक **सप्तदशी कला** का यह तत्त्वाख्यान अत्यन्त गोपनीय एवं रहस्य भूत है। अत्यन्त रमणीय इस तत्त्व का साक्षात्कार निरन्तर साधनाभ्यास में रहने वाले योगी ही ध्यान के द्वारा कर पाते हैं। शिव स्वयंभू ब्रह्मा अच्युत विष्णु आदि देवगण भी

इस पूर्वोक्त परमब्रह्म निर्वाणतन्त्र (परमब्रह्म निर्वाण-पद) का ही अखण्ड ध्यान करते हैं।

मुनीन्द्रैः सुधन्यै[1] परैर्नारदाद्यैः
तथा देववृन्दैः यतीशैः परं तत्।
सदोपास्यते चालनं (?) शाश्वतं तै-
रणुं नित्यतत्त्वं परं ब्रह्म सत्यम् ॥४८॥

अपने जीवन को सफल अतएव धन्य बना लेने वाले नारद आदि मुनिश्रेष्ठ, सभी देवगण तथा साधना के शिखर पर पहुंचे हुए यति लोग सभी इस अत्यत्त सूक्ष्म नित्य शाश्वत सत्य स्वरूप परब्रह्म रूपी निर्वाण कला की प्राप्ति चालन अर्थात् कुण्डलिनी का उत्थापन की साधना के अभ्यास के द्वारा करते हैं।

निखिलनिगमशास्त्रै र्वेदतन्त्रानुसारैः
समुदितमिति सत्यं ब्रह्मनिर्वाणमेतत्।
तदपि परमधन्याः ध्यानधीराः मुनीन्द्राः
परमिदमनुतत्त्वं यान्ति चान्ते हि योगात् ॥४९॥

सत्यब्रह्म स्वरूप यह 'ब्रह्म-निर्वाण' तत्त्व समस्त वेद शास्त्र आगम निगम और तन्त्र आदि का समुदित सार है। परम धन्य अर्थात् जिन्होंने अपने जीवन को पूर्ण सफल बना लिया है, निरन्तर ध्यान में स्थिर रहने वाले मुनिश्रेष्ठ तत्त्वों में भी तत्त्वभूत इस परमतत्त्व का साक्षात्कार (प्राप्ति) योग के द्वारा अन्त अर्थात् पूर्ण सिद्धि की अवस्था में करते हैं।

ज्ञात्वा श्रीनाथ वक्त्रात्क्रममिदममलं ध्यानधामानुशीलः
कूर्चेनैवाथ देव्याः सह परमपथं पञ्चभूतेन वायुम्
प्रोत्थाप्योर्ध्वं च धाम्नीश्वरपरनिलये ब्रह्मकन्दान्तराले
स्थित्वा बद्ध्वा हि मुद्रां गुरुयजनयति ध्यानमेवं प्रकुर्यात् ॥५०॥

---

१. स्वधन्यैः क.

ध्यान साधना का निरन्तर अभ्यास करने वाला साधक इस सर्व-मलापहारी यम नियम आदि की साधना से युक्त साधना क्रम को श्रीनाथ मुख से अर्थात् पूर्णसिद्ध गुरु के मुख से जान करके देवी के कूर्च से अर्थात् कुण्डलिनी के चालन में विनियुक्त "ॐ हूं हंसः" इस कूर्च मन्त्र से[1] तथा प्राण एवं अपान के संयोजनरूप उपसथ से कुण्डलिनी को जागृत कर पञ्चभूत धारणा अर्थात् मूलाधार में **पृथिवी धारणा,** स्वाधिष्ठान में **जल धारणा**, मणिपूर में **अग्नि धारणा**, अनाहत में **वायवी धारणा,** विशुद्ध पद्म में **आकाशीय धारणा** सम्पन्न करके वायु को कुण्डलिनी सहित अर्थात् वायु-मन-बुद्धि जीव और कुण्डलिनी को ऊपर ले जाकर प्रथम आज्ञा चक्र में और उसके अनन्तर ब्रह्म कन्द अर्थात् सुषुम्णा के अन्तर्गत विद्यमान वज्रिणी नाड़ी के अन्दर में स्थित चित्रिणी नाड़ी के मुख में, जो पर शिव का धाम है, में योनि मुद्रा द्वारा स्थिर करके वहीं गुरु की पूजा करता हुआ ध्यान साधना करे।

तुलनीय—

'हुंकारेणैव देवीं यमनियमसमभ्यासशीलः सुशीलो
ज्ञात्वा श्रीनाथवक्त्रात्क्रममिति च महामोक्षवर्त्मप्रकाशम्।
ब्रह्मद्वारस्य मध्ये विरचयति स तां शुद्धबुद्धिस्वभावो
भित्वा तल्लिङ्गरूपं पवनदहनयोराक्रमेणैव गुप्तम्'॥
(षट्० नि० ५०)

इस प्रसङ्ग में **आगमकल्पद्रुम कालीकुलामृत** एवं **कंकालमालिनी-तन्त्र** ग्रन्थों के निम्नलिखित वचन भी द्रष्टव्य हैं :—

"ततो हंसमुपस्मृत्य शनैराकुञ्चयेद् गुदम्।
....
आरोप्यारोप्य शक्ति कमलजनिलयादात्मना साधकेन्द्रः"॥
—आगमकल्पद्रुम।

"हृदयाद्धंसमनुना नीत्वा जीवं मुखाम्बुजे।
हूंकारेण समुत्थाप्य कुण्डलीं परदेवताम्"॥
—कालीकुलामृत

1. हूं हंसः इतिमन्त्रः कुण्डलिनी चालने विनियुक्तः। —ललिता रहस्य

"आकृष्य प्रणवेनैव जीवात्मानं नगेन्द्रजे।
कुण्डलिन्या सह प्राणं गन्धमादाय साधकः।
सोऽहं तु मनुना देवि स्वाधिष्ठाने प्रवेशयेत्" ।।

—कंकालमालिनीतन्त्र

निर्वाण पद्धति तन्त्र में कुण्डलिनी जागरण साधना को कुछ और अधिक स्पष्ट रूप से इस प्रकार वर्णित किया गया है :—

"आदौ पूरकयोगेन स्वाधारे योजयेन्मनः।
गुद मेढ्रान्तरे योनिस्तामाकुञ्च्य प्रबोधयेत् ।।
भ्रमद् योनिगतं ध्यायेत्कामं बन्धूकसन्निभम्।
ज्वलत्कालानलप्रख्यं तडित्कोटिसमप्रभम् ।।
तदूर्ध्वे तु शिखा सूक्ष्मा चिद्रूपा परमाकला।
तया सहितमात्मानमेकी भूतं विचिन्तयेत् ।।
गच्छन्ती ब्रह्ममार्गेण लिङ्गभेदक्रमेण तु।
अमृतं यद् विसर्गस्थं परमानन्दलक्षणम् ।।
द्रुतरक्तं सतेजाढ्यं धारापातप्रवर्षणम्।
पीत्वा कुलामृतरसं पुनरेव कुलं विशेत् ।।
सा च प्राणः समाख्यातस्तन्त्रेऽस्मिन्परमेश्वरि।
एवमभ्यस्यमानस्य ह्यहर्निशनिबन्धनात् ।।
चतुर्विधा तु या सृष्टिरस्यां योनौ प्रजायते।
पुनः प्रलीयते तस्यां कालाग्न्यादिशिवान्तिकम्।
योनिमुद्रा परा सा तु बन्धस्तस्याः प्रकीर्त्तितः ।।

—निर्वाण पद्धति

गोरक्षपद्धति दत्तात्रेय योगशास्त्र आदि ग्रन्थों में भी कुण्डलिनी साधना की विधि का इसी प्रकार वर्णन किया गया है।

कृत्वा ध्यानं हि तत्त्वे[1] न हि पुनरपरं जन्म पञ्चत्वभीति-
स्त्रैलोक्ये सो हि[2] कर्त्ता न हि पुनरपरे ब्रह्मविष्णवादयो वा।
वक्तुं किञ्चित्समर्थाः सुरवरनिकराः योगिनस्तं स्तुवन्ति
योगी क्रुद्धो भवेच्चेज्ज्वलदखिलमिदं भस्मसारं करोति ।।५१।।

---

१. तत्त्वं क. २. सोऽपि क.

इस **परनिर्वाण तत्त्व** पर ध्यान साधना के फलस्वरूप साधनारत जीव का पुनः जन्म नहीं होता, जब तक वह इस विश्व प्रपञ्च में है तब तक उसे जरा और मृत्यु का भय भी नहीं रहता। तीनों लोकों में वह ही निर्माण (कर्त्तृत्व) आदि के सामर्थ्य से युक्त होता है। इसके अनन्त सामर्थ्य का वर्णन ब्रह्मा विष्णु आदि देवता भी नहीं कर सकते। समस्त योगिजन इस महायोगी (सिद्धयोगी) की स्तुति करते हैं। और यदि यह योगी क्रुद्ध हो जाए तो वह समस्त भूमण्डल को भस्मसात् कर डालता है।

तुलनीय—

'इह स्थाने चित्तं सततमवधार्यात्तमनसः
यदि क्रुद्धो योगी चलयति समस्तं त्रिभुवनम्।
न च ब्रह्मा विष्णुर्न च हरिहरो नैव खमणि-
स्तदीयं सामर्थ्यं शमयितुमलं नापि गणपः॥

—त्रिपुरासार समुच्चय ५.२६

इति श्रीमद् वीरेश्वरानन्द ब्रह्मचार्यग्रणी रचिते योगरत्नाकरे तृतीयस्तरङ्गः।

ब्रह्मचारी वर्ग में अग्रणी श्री वीरेश्वरानन्द विरचित योगरत्नाकर का
तृतीयतरङ्ग पूर्ण हुआ, और उस पर स्वामी केशवानन्द
सरस्वती के शिष्य 'प्रणव' इस द्वितीय नाम से
विश्रुत महामहोपाध्याय स्वामी अनन्त भारती
विरचित योगरत्नाकर दीपिका पूर्ण हुई।

चतुर्थ तरङ्ग

हृत्पद्मोद्गत कर्णिकान्तरलसत्तीर्थे बुधः पुष्करे।
स्नायाद् वा पुनरेव बिन्दुनिलये[1] बिम्बार्कचन्द्रात्मके।
योगज्ञः शिवतीर्थकेऽमलमनाः स्नात्वा विमुक्तो भवेत्,
किं गाङ्गैरपि पुष्करैर्बहुविधैस्तीर्थैः पुनः किम्फलम् ॥१॥

इस चतुर्थ तरङ्ग में हिन्दु परम्परा में स्वीकृत विविध पुण्यतीर्थों की शरीर में ही स्थिति का कथन करते हुए उन तीर्थों में ध्यानरूपी स्नान की महिमा का वर्णन किया गया है।

हृदयकमल अर्थात् बारह पत्र (पटल) वाले अनाहत पद्म की कर्णिका के अन्तर्गत विद्यमान पुष्करतीर्थ में विद्वान को चाहिए कि प्रतिदिन ध्यानरूपी स्नान करे। इसके अतिरिक्त यदि वह सूर्य और चन्द्र बिम्ब से युक्त बिम्ब निलय नामक शिवतीर्थ में अर्थात् सहस्रार-चक्रगतकर्णिका में विद्यमान शिवस्थान में निरन्तर ध्यानरूप स्नान करता है, तो उसके चित्त के समस्त मल दूर हो जाते हैं और वह मुक्त हो जाता है। शरीर में स्थित इन पावन और मोक्ष प्रदान करने वाले विविध तीर्थों के रहते हुए गंगा आदि नदियों के तट पर बने तीर्थों से क्या प्रयोजन है? साधक को चाहिए कि वह शरीर में स्थित इन तीर्थों में ध्यानरूप स्नान नित्य निरन्तर करे।

हुंकारेण तु कुण्डलीं लयवशात्प्रोत्थाप्य चोर्ध्वाम्बुजे,
शम्भौ तां परियोजयेद् यतिवरैरुक्ता हि[1] सन्ध्यात्रियम्।
तं बिन्दूद्गलितामृतं पुनरधः पात्रेऽर्धचन्द्रात्मके,
सम्पूर्यामलचेतसा स्वहृदये सन्तर्पयेद् देवताम् ॥२॥

हुँकार मन्त्र द्वारा अर्थात् 'ॐ हूं हंसः' इस मन्त्र के साथ लययोग साधना अर्थात् ध्यान करके कुण्डली को उत्थापित (जागृत) करके ऊर्ध्वकमल अर्थात् सहस्रार में पहुंचाकर उसे सहस्रार पद्म की

१. उक्तेति क.

कर्णिका में स्थित बिन्दु सूर्य एवं चन्द्रमण्डल से बने त्रिकोण के मध्य में विराजमान परम शिव के साथ मिलाना इसे ही योगीजन सन्ध्या कहते हैं। इस संध्या साधना में उसे चाहिए कि वह बिन्दु स्थान से उद्गलित अमृत को अर्धचन्द्ररूपी पात्र में संचित करके अत्यन्त निर्मल चित्त होकर अपने हृदयरूपी मन्दिर में प्रतिष्ठित देवता की अर्चना करे।

न्यासस्तन्मयताऽथवा परपदे चिद्रूपके ब्रह्मणि,
कामादीन्द्रियधर्मकर्म सकलं न्यासीभवेन्न्यस्य च।
निर्वाणास्पदमच्युतं यतमना ध्यायेद् धिया निर्मलं,
चन्द्रार्कानलभासुरं लयवशाद्[1] बुद्ध्वा निरालम्बिकाम्॥३॥

पूजा साधना के क्रम में अङ्गन्यास मातृका न्यास आदि क्रियाएं सम्पन्न करनी होती हैं, इस साधना में वीरेश्वर के अनुसार उसके समान्तर परम शिव में ध्यानस्थ होकर तन्मय हो जाना न्यास है, अथवा न्यास कर्म करने वाला साधक परम पद के रूप में सर्व स्वीकृत चिद्रूपात्मक-ब्रह्म में काम आदि अर्थात् काम क्रोध लोभ मोह आदि मनोभावों को, श्रोत्र त्वचा चक्षु जिह्वा और नासिका इन ज्ञानेन्द्रियों के विषयों को, तथा बाणी हाथ पैर आदि कर्म इन्द्रियों से सम्पादित किये जाने वाले सभी कर्मों के फलों को समर्पित करे यह न्यास है, उसे करके तृतीय तरङ्ग के ४२ पद्म में वर्णित निरालम्बामुद्रा को लगाकर लय साधना विधि अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार से कुण्डलिनी जागरण हेतु प्रत्येक चक्र में प्राण एवं चित्त का लय करते हुए चन्द्र सूर्य और अग्नि के समष्टि रूप तेज के समान अत्यन्त तेजोमय निर्मल अच्युत निर्वाणपद का अर्थात् सहस्रार पद्म गत कर्णिका के त्रिकोण में स्थित पूर्ववर्णित परम शिव पद का ध्यान करे।

प्रोत्थाप्यामलतेजसा स्वहृदये देवीं परां कुण्डलीम्,
जीवेनैकतया पुनः परपदे चिद्ब्रह्म सूक्ष्मे लयम्।

---

१. नयवशात् क

कृत्वा तिष्ठति चात्मभावविभवो नित्या सपर्या त्विय,
जाप्यं हंसनिषेवनादमलकं वेदादिबीजं[1] जपेत्[2] ॥४॥

पूर्ववर्णित केवल कुम्भक सहित लय साधना के द्वारा आधार पद्म के निकट अग्नि को प्रदीप्त कर उसके द्वारा परा देवी कुण्डलिनी को जागृत कर सर्व प्रथम हृदय पद्म (अनाहत पद्म) पर लाकर वहाँ प्राण और चित्त सहित उसे जीव के साथ एकाकार करके पुनः उसे सहस्रार में ले जाकर चिद्ब्रह्म रूप अति सूक्ष्म परमपद में लीन करे (उसका लय करे)। इस नित्य साधना रूप सपर्या अर्थात् पूजा करने से साधक को आतमभाव का साक्षात्कार हो जाता है। वह समस्त विश्व में आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करने लगता है। इस स्थिति में पहुंच कर साधक को नादबिन्दु के मध्य किन्तु नीचे मणि पीठ पर विद्यमान पुंप्रकृत्यात्मक हंस की उपासना से अमलक अर्थात् समस्त विकार निवारण पूर्वक सिद्धत्रयी वेदविद्या के आदि बीज अर्थात् प्रणव मन्त्र का जप करना चाहिए। तात्पर्य है कि यह साधना ही साधक की नित्य सपर्या-पूजा आराधना है, उससे अन्य किसी प्रकार की पूजा की अपेक्षा नहीं रहती।

कुण्डे ह्यात्मचतुष्टयास्रवचिते नाभ्यग्निमध्यस्थिते,
चानन्दावृतिमेखले[3]ऽमलमतिर्मात्राधंयाभ्युन्नते[4] ।
धर्माधर्मघृतेन चात्मनि चिदानन्दे स्रुवेणैव च,
नित्यं वै मनसा हवेत् यतिवरो योगीश्वरो योगवित् ॥५॥

प्रस्तुत पद्य में यज्ञयागादि क्रिया का आरोप इस लय साधना पर किया गया है। यज्ञ यागादि के सम्पादन में कुण्ड अग्नि मेखला घृत स्रुवा आदि साधनों की अपेक्षा होती है। प्रस्तुत पद्म में लय साधना पर होम का आरोप करते हुए लय साधना के साधनों पर होम साधनों का आरोप किया गया है। होम आदि यज्ञ सम्पादन के लिए यज्ञ कुण्ड की सर्व प्रथम अपेक्षा होती है। इस कुण्ड का निर्माण

---

१. त्रैरादि बीजं क
२. भवेत्
३. चानन्दाकृति मेखले क
४. मात्रार्धयोन्युन्नते क

सम चतुष्कोण चतुर्भुज वर्गाकृति में किया जाता है तथा प्रत्येक भुजा-पार्श्व विशेष आकृति की भित्ति के सदृश इष्टका से निर्मित होती है। इस साधनारूप होम के सम्पादन में आत्म चतुष्टय अर्थात् मन बुद्धि चित्त और आत्म ये चार आस्रव हैं जिनके द्वारा चतुर्वर्ग कुण्डनिर्मित अर्थात् आत्मा आदि रूप इष्टकाओं से निर्मित यज्ञ कुण्ड है। नाभि स्थान मणिपुर पद्म में स्थित अग्नि कुण्डस्थ अग्नि हैं, आनन्द रूप मेखला ने इस आत्मकुण्ड को आवृत किया हुआ है। यह मेखला निर्मल मतिरूपी अर्धमात्रा से समुन्नत है। योग विद्या के जानकार योगीश्वर यति को चाहिए कि वह धर्म और अधर्म रूपी घृत को मन रूपी स्रुवा के द्वारा चिद् आनन्दरूपी आत्मा में हवन करे।

एवं यः कुरुते यतीश्वरवरः स्नानादिहोमान्तकम्,
निर्धूताघविकारनिर्मलवपुर्योगी यतान्तर्मना[1]।
स स्याद् ब्रह्मसमः[2] स्वयं सुरगुरोस्तुल्यो हि शास्त्रे कविः,
संसारे नहि जायते नहि कदापि[3] क्षीयते संक्षये ॥६॥

जो यतीश्वर पूर्वोक्त हृदयरूपी पुष्कर में अथवा बिम्बार्क चन्द्रात्मक शिव तीर्थ में स्नान करके उपर्युक्त प्रकार से आत्मकुण्ड में आत्मयाग पर्यन्त साधना सम्पन्न करता है, अपने जीवन में काल ही वह समस्त पापविकारों को नष्ट कर निर्मल शरीर एवं निर्मल अन्तः करण वाला होकर स्वयं ब्रह्म के समान हो जाता है। वह सिद्ध योगी शास्त्रों में बृहस्पति के समान कुशल होकर मुक्त हो जाता है। न उसका संसार में कभी जन्म होता है और न प्रलय काल में भी कभी उसका विनाश होता है। अर्थात् इस साधना के फलस्वरूप योगी सिद्ध होकर अजर अमर हो जाता है।

इति श्रीमहामहोपाध्याय श्री वीरेश्वरानन्द ब्रह्मचारि विरचिते योगरत्नाकरे चतुर्थस्तरङ्गः।

महामहोपाध्याय श्रीवीरेश्वरानन्दब्रह्मचारी द्वारा विरचित योगरत्नाकर का चतुर्थतरङ्ग पूर्ण हुआ और उस पर प्रणव इस द्वितीय नाम से विश्रुत महामहोपाध्याय स्वामी अनन्त भारती विरचित योगरत्नाकर-दीपिका पूर्ण हुई।

---

१. यतान्तर्मला क. २. ब्रह्म सः क ३. कदा संक्षीपते क.

पञ्चम तरङ्ग

अथान्तर्यजनं वक्ष्ये क्रमशो ध्यानधारिणाम् ।
भुक्ति-मुक्तिप्रदं साक्षात् महापातक नाशनम् ॥१॥

अग्रिम पद्यों में ध्यान साधना में लगे हुए साधकों के लिए अपेक्षित समस्त पापों का सम्पूर्ण रूप से क्षय करने वाले भुक्ति (भोग) और मुक्ति दोनों ही प्राप्त कराने वाले अन्तर्याग का विवरण और उसकी विधि का निर्देश किया जा रहा है।

शरीरं परं भावयेद् विश्वरूपं, ततो हृत्समीपेऽम्बुधीन्धीरचेताः ।
सुधापूर्णमेवाथवा क्षीरपूर्णं, मणिद्वीपमेकं तदन्तः प्रदीप्तम् ॥२॥

शरीर की विश्व के रूप में अर्थात् समस्त ब्रह्माण्ड के रूप में भावना करे। तदनन्तर हृदय के निकट समुद्रों की भावना करे। (समुद्रों की भावना के समय सात समुद्रों की भावना की जाती है जिनमें लवणसमुद्र इक्षुरससमुद्र, सुरासमुद्र, घृतसमुद्र, दधिसमुद्र, क्षीरसमुद्र, और मधुसमुद्र माने जाते हैं। इनमें प्रत्येक समुद्र के बाद एक बलयाकार द्वीप और उसके बाद बलयाकार समुद्र माना जाना जाता है।) इन समुद्रों में से सुधा समुद्र अथवा क्षीर समुद्र के मध्य मणि द्वीप की भावना करे। यह मणिद्वीप उन मणियों की दीप्ति से अत्यन्त प्रदीप्त है।

सुवर्णैर्लसद् बालुकाभिः प्रपूर्णं, समन्तात्परं योजनं लक्षसंख्यम्[१] ।
चतुर्दिक्षु तस्याद्भुतोद्यानमास्ते, सुरम्यं प्रसूनैः प्रपूर्णं मनोज्ञम् ॥३॥

यह मणि द्वीप एक लाख योजन विस्तीर्ण है, तथा सम्पूर्ण द्वीप में चारों ओर सुवर्णमयी बालुका विद्यमान है। उसमें सभी दिशाओं में मनोरम फूलों से भरा हुआ अद्भुत उद्यान है।

---

१. लक्ष्य संख्यम् क.

द्रष्टव्य—सुधासिन्धोर्मध्ये सुरविटपिवाटीपरिवृते
मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणि गृहे।
शिवाकारे मञ्चे परमशिव पर्यङ्कनिलयाम्
भजन्ति त्वां धन्याः कतिचन चिदानन्दलहरीम् ।।
—(सौन्दर्य लहरी ८)

सुवृक्षैः फलाढ्यैः[१] वरैश्चम्पकाद्यैः, कदम्बैर्लवङ्गैस्तथा पारिजातैः।
लसन्मल्लिका-मालती-नागराजैः, समुद्भासितं षट्पदैर्दीप्यमानम् ।।४।।

यह मणिद्वीप फलों से लदे हुए वृक्षों से तथा भ्रमर समूह से सुशोभित चम्पा कदम्ब पारिजात (हरश्रृंगार) मल्लिका (मोतिया-मोगरा) मालती नागपुष्प (नाग केसर) आदि प्रशस्त पुष्पों से अलंकृत हैं।

वरैः कोकिलैः गीयमानं सुरङ्गैः शुकैः खञ्जरीटादिभिः सारसैश्च।
मयूरादिभिः पक्षिभिर्भासमानं सुगन्धानिलैः शीतलैश्चातिरम्यम् ।।५।।

यह उद्यान सुमधुर पञ्चम स्वर में गान करने वाले कोकिलों, मनोहर वर्णों वाले शुकों (तोता) खञ्जरीट (खञ्जन) सारस (हंस) एवं मयूर पक्षियों से अलंकृत तथा सुगन्धित शीतल एवं अतिशय रम्य वायु के होने से अत्यन्त रमणीय है। इस प्रकार की भावना करे।

प्रसन्नाः मृगेन्द्रादयो जन्तवश्चापरेऽहिंसकाः संवसन्तीह तत्र।
ततो वेदवापी सुरम्याम्बुजाद्यैश्चतुर्दिक्षु हंसादिभिश्चक्रवाकैः ।।६।।

इस मणि द्वीप में सिंह व्याघ्र आदि जन्तु तथा अन्य अहिंसक पशु निवास करते हैं, तथा इसमें चार वापी अर्थात् चारों दिशाओं में बंधे हुए सोपान मार्ग वाले चार जलाशय हैं, जो सुरम्य कमल आदि पुष्पों से अलंकृत एवं चारों ओर विचरते हुए हंस चक्रवाक आदि जल-पक्षियों से सुशोभित है, इस प्रकार की भावना करे।

---

१. फलाद्यैः क.

ततो द्वीपमध्ये परं भावयेद् वै, स्वमीन्दो'ऽयुतक्रोशभित्ति' सुरम्यम्।
चतुर्धारयुक्तं लसच्चामराद्यैश्चलद् घंटिका घोररावैः प्रपूर्णम् ॥७॥

तदनन्तर इस मणिद्वीप के मध्य में एक अयुत अर्थात् दस हजार कोश तक विस्तृत सुन्दर रमणीय प्राचीर युक्त महल की भावना करे। जो कि चारों दिशाओं में 'र' अर्थात् रक्षक अग्नि से युक्त, चलती हुई चामर आदि से अलंकृत तथा हिलते हुए घंटों के तीव्र नाद से परिपूर्ण है।

ध्यायेत्स्वर्णसुवेदिकां मणिमयीं प्राचीरमध्ये ततो—
नित्यं कल्पतरुं हिमद्युतिनिभं पञ्चाशदर्णात्मकम्।
ज्योतिर्मन्दिरमुत्तमं यतिवरैश्चन्द्रातपैः शोभितम्
विस्तीर्णं शतयोजनैर्मणिमयं कल्पद्रुमस्यान्तिके' ॥८॥

तदनन्तर अन्तर्याग करने वाला योगी उस प्राचीर के मध्य में एक मणिमय सुन्दर स्वर्ण वेदिका की भावना करे और उसके निकट अ से क्ष तक पचास वर्णों से युक्त, जिन वर्णों को मूलधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञापद्मों के प्रत्येक पत्रों पर अंकित बताया गया है, उन बीजाक्षरों से युक्त, नित्य चन्द्रमा के समान भासमान कल्पद्रुम की तथा कल्पद्रुम के निकट सौ योजन विस्तीर्ण अहर्निश चन्द्रमा के प्रकाश से भासमान मणिमय उत्तम ज्योतिमन्दिर की भावना करे।

पश्चाद् वा मणिवेदिकां परिलसत् सिंहासनं भावयेत्
तत्राब्जोपरि दैवतं दिनकरद्योतं परं भावयेत्।
यन्त्रं निर्मल'चेतसामृतरसैः पूर्णं परानन्दवित्
ध्यात्वा द्वारचतुष्टये स्वविधिना द्वारस्य देवान् यजेत् ॥९॥

तदनन्तर उस मणिमय ज्योति मन्दिर के अन्तर्गत मणिवेदिका से अलंकृत सिंहासन की भावना करे तथा उस सिंहासन के ऊपर कमल-

---

१. इन्द्रो क. २. युतक्रोश भित्तं क.
३. कल्पद्रुमस्यान्तके क. ४. निर्मिल क.

आसन पर सूर्य की भांति निरन्तर भासमान देवता की भावना करे। तदनन्तर परम आनन्द का बोध रखने वाला साधक योगी निर्मल चित्त से अमृतरस से परिपूर्ण यन्त्र का भावना में निर्माण करके चारों द्वारों पर उनके रक्षक अग्नि इन्द्र वरुण और सोम इन देवताओं का ध्यान करके अपनी परम्परागत विधि से उन देवताओं की पूजा कर रहा हूं, ऐसी भावना करे।

भक्त्या त्वासन देवतां[1] स्वविधिना धीरो यजेद् योगवित्
पश्चाच्छ्रीगुरुदैवतोक्तिसुलभामावाह्य तां देवताम्।
यन्त्रे वै परिपूजयेत् सितमनास्तेजःस्वरूपां पराम्
पाद्यार्घ्यै रुपचारकै र्मनसिजैः दिव्यैर्यतान्तर्मना[2] ॥१०॥

योग को जानने वाला धीर साधक प्रशस्त आसन पर विराजमान देवता की (साधना स्थल के रूप में स्वीकृत शक्ति पीठ के देवता की) विधिपूर्वक पूजा करके उसके अनन्तर श्री गुरु देव के निर्देश के अनुसार सुलभ देवता का यन्त्र में आवाहन करके उस तेजः स्वरूप परा देवता की निर्मल चित्त होकर पाद्य अर्घ आदि संकल्पमय दिव्य उपचारों के द्वारा भली प्रकार पूजन करे।

पाद्यं चैव पदाम्बुजे हि विमलं चार्घ्यं च मौलौ तथा।
वक्त्रे चैव परं जलं सुविमलं दद्याच्च यत्नाद् बुधः।
पश्चाद् वै मधुपर्ककं यतिवरो गन्धं च वाग्वात्मकं
कस्तूरीं हरिचन्दनं सकुसुमं[3] माल्यानुलेपं तथा॥११॥

इस आन्तर सोपचार पूजा में पाद्य जल देवता के चरण कमलों में, अर्घ्य जल शिर पर तथा आचमनीय निर्मल जल यत्न पूर्वक मुख में देवे। उसके अनन्तर मधुपर्क वाग्वात्मक गन्ध कस्तूरी हरिचन्दन पुष्प माल्य और अनुलेपन (शरीर में लगाने का सुगन्ध द्रव्य) देवता को समर्पित करे।

---

१. आसन देवता क.
२. ······यतान्तर्नला: क.
३. सुकुसुम क.

पञ्च वाय्वात्मकं धूपं चिदग्निं दीपमेव च।
अनाहतध्वनिमयीं घंटां चैव निवेदयेत् ।।१२।।
नैवेद्यं विविधं दद्यात् पायसं पिष्टकान्वितम्।
शर्करां समधुक्षीरं फलानि विविधानि च ।।१३।।
पृथिव्यां यानि वस्तूनि बहूनि चोत्तमानि च।
देवतायै प्रदद्याच्च भक्तिभावेन चेतसा ।।१४।।

इसके अनन्तर प्राण अपान समान उदान और व्यान इन पांच वायु रूपी धूप, चित् (चेतना) रूपी अग्निमय दीप और अनाहत नाद रूपी घण्टा देवता को अर्पित करे। इसी प्रकार विविध प्रकार के नैवेद्य पिष्टक युक्त पायस (सूजी की खीर) शर्करा (शकर-चीनी), मधु रहित दूध, विविध प्रकार के फल, पृथिवी में विद्यमान, जो भी उत्तम पदार्थ हैं, उन सभी पदार्थों को भक्तिभावपूर्ण चित्त से देवता को समर्पित करता हुआ अन्तर्याग करे।

सहस्रारामृतेनैव भृङ्गारं परिपूरितम्।
दद्यान्नीरं हि पानाय ताम्बूलं तत्त्वमेव हि ।।१४।।

सहस्रार पद्म से निसृत अमृत से परिपूर्ण भृङ्गार (विशाल जल पात्र) समर्पित करते हुए पीने के लिए देवता को जल समर्पित करे तथा ताम्बूल के रूप में आत्मतत्त्व को देवता के लिए समर्पित करे।

अम्बरं चामरं दद्याद् दर्पणं सूर्यमेव च।
पूर्णं चन्द्रं तथा छत्रं मेखलां पद्मनिर्मिताम् ।।१६।।
ततो मालां चन्दनं च दत्वा नत्वा सुभक्तितः।
देवतायाः षडङ्गादीन् स्नानं सम्पूज्य कारयेत् ।।१७।।

इसके अनन्तर अन्तर्याग करते हुए साधक योगी अम्बर (आकाश) रूपी चामर, सूर्यरूपी दर्पण, पूर्ण चन्द्ररूपी छत्र तथा षट्पद्म रूपी मेखला अर्पित करके भावमयी माला और चन्दन समर्पित करे तथा भक्ति पूर्वक देवता को प्रणाम करके षडङ्ग न्यास आदि क्रियाएं सम्पन्न करते हुए देवता की पूजा करके उसे स्नान कराये।

अथोद्वर्त्तनं देवतायाश्च कृत्वा
सुवर्णस्य वै दोलिकायाञ्च नीत्वा ।
ततः पश्चिमे मण्डपस्यापि तोयैः
समारोप्य तामासने स्नापयेच्च ॥१८॥

स्नान के क्रम में देवता को उद्वर्त्तन (उबटन) करके उसे (देवता को) सोने की पलकी में स्थापित कर मण्डप के पश्चिम भाग में ले जाकर आसन पर प्रतिष्ठित करके जल से स्नान कराये ।

ततः प्रोञ्छयेत्केशपाशं सुरम्यं
मनोहारि गन्धादिकं सम्प्रदाय ।
वरं गन्धयेत्केशपाशं प्रयत्नात्,
सुपुष्पाणि मालादिभिः शान्तचेताः ॥१९॥

इस प्रकार देवता को मानस स्नान कराकर उसके सुरम्य केशपाश को पोंछे, तथा प्रयत्न पूर्वक प्रशस्त गन्ध द्रव्य समर्पित करके केशपाश को सुगन्धित करे एवं सुन्दर सुगन्धित पुष्प तथा माला आदि से योगी उन्हें अलंकृत करे ।

आकाशतत्त्वैः श्रवणं हि धीमान्
तत्त्वेन नेत्रं खलु तैजसैश्च ।
वायोस्तथा घ्राणकमात्मनो वै
चोर्ध्वं हि मध्यं त्वपि विद्ययैव ॥२०॥

अधस्तथा वै शिव तारकेन, सम्प्रोञ्छयेन्मानसरस्य वस्त्रैः ।
दद्यात्ततो वै मणिपादुकाञ्च पादद्वयाधः परया च भक्त्या ॥२१॥

इसके अनन्तर बुद्धिमान् योगी आकाश तत्त्व के मन्त्र से देवता के श्रवणों का, तैजस तत्त्व के मन्त्र से दोनों नेत्रों का, वायु तत्त्व के मन्त्र से घ्राण का, ऊपर और मध्य भाग का विद्या के मन्त्र द्वारा तथा अधोभाग का शिवतारक मन्त्र के द्वारा इस प्रकार मन्त्र रूप मानस वस्त्रों से प्रोञ्छन करके दोनों पैरों के नीचे अत्यन्त भक्ति भावना के साथ मणिपादुका समर्पित करे ।

वस्त्रं तां परिधापयेद् यतमना दिव्यं सुवर्णात्मकम्
भाले चन्दनमुत्तमं नयनके दद्यात्पुनः कज्जलम्।
ताटङ्कं वलयं मनोगतलसन्मालां गले दापयेत्
अङ्घ्रावुत्तमनूपुरौ श्रवणयोर्मुक्तावतंसोत्तमौ ॥२२॥

इसके अनन्तर देवता को एकाग्रचित्त होकर दिव्य सुवर्णमय वस्त्र पहनाए। मस्तक पर उत्तम चन्दन, नेत्रों में काजल, कानों में भावनामय ताटंक, हाथों में कंगन, ग्रीवा में माला, पैरों में मनोरम नूपुर तथा कानों में मुक्ता निर्मित अवतंस समर्पित करे।

देव्याः भालतले परं सुविमलं सिन्दूरमेवारुणम्
गन्धं लोहित चन्दनं पदयुगेऽलक्तं तु दद्याद् बुधः।
नासायां गजमौक्तिकं तु मनसा दद्यादलङ्कारकं
शीर्षे रत्नपरीतमेव मुकुटं कोट्यर्कविद्युन्निभम् ॥२३॥

देवता अर्थात् कुण्डलिनी देवी की मानस पूजा के प्रसङ्ग में अन्य पूर्व उपचारों के अनन्तर देवी के भाल पर निर्मल अरुण (लालरंग) सिन्दूर, गन्ध लाल चन्दन एवं चरणों में अलक्त, नासिका में गजमुक्ता तथा शिर पर करोड़ों सूर्य एवं विद्युत की समवेत दीप्ति के सदृश दीप्तिमान् रत्नों से जटित मुकुट इत्यादि मानस अलंकार समर्पित करे।

ओष्ठेऽलक्तकमुत्तमं हि वपुषि स्वानन्दगन्धं ततो
दिव्यां कञ्चुकिकां[1] तथा हृदि पुनर्गन्धोत्कटं कुङ्कुमम्।
शङ्खं चैव मनोरमं प्रतिकरं दिव्यास्त्रभूषादिकम्।
केयूरान् मणिकिङ्किणीं कटितटे क्षुद्राख्यघण्टावलिम् ॥२४॥

तदनन्तर ओष्ठ में उत्तम अलक्तक (अधरराग-Lip-stick), शरीर में निज आनन्दरूपी गन्ध, हृदय पर दिव्य कञ्चुकी (चोली) एवं तीव्र गन्ध युक्त कुङ्कुम का लेप करके प्रत्येक हाथ में शंख चक्र गदा आदि दिव्य-अस्त्र रूपी अलंकार बाहुओं में केयूर तथा कमर में

---

१. कंचुलिका क

क्षुद्र घंटिका नामक आभूषण के रूप में मणिमय किङ्किणी समर्पित करे।

पादयोः नूपुरौ दद्यात्तथैवान्यच्च भूषणम्।
अङ्गुलीयकरत्नानि सर्वाङ्गुलिषु दापयेत् ॥२५॥

इसके अनन्तर दोनों पैरों में नूपूर तथा अन्य आभूषण अर्पित करके सभी अङ्गुलियों में रत्न निर्मित अंगूठियां समर्पित करे।

समुत्थाप्य तां देवतां दोलिकायां
बुधो देवकन्यागणैरप्सरोभिः।
समुद् वीज्यमानां परां चामराद्यैः
समानीय पूर्वासने स्थापयेच्च ॥२६॥

इस प्रकार पूर्वोक्त मानसोपचार पूजा करके योगी उस देवता को मनोमयी दोलिका (डोली-पालकी) में उठाकर देवकन्याओं और अप्सराओं द्वारा वीज्यमान अर्थात् चंवर द्वारा हवा करते हुए उस परा देवता को लाकर पूर्व आसन पर स्थापित करे।

विविधविमलपुष्पैर्गन्धधूपादिदिव्यैः
बहुविधफलरस्यापूर्वनैवेद्यवृन्दैः।
घृतमधुपरमान्नैः पिष्टकाद्यैश्च तोयैः
नियतमपि यजेत्तां देवतां भक्तिभावात् ॥२७॥

इसी प्रकार अत्यन्त भक्तिभाव से परिपूर्ण चित्तवाला होकर विविध निर्मल पुष्पों, सुगन्ध द्रव्यों, दिव्य धूप आदि बहुत प्रकार के द्रव्यों, फलों रस्य अर्थात् आस्वाद योग्य पदार्थों अद्‌भुत मिष्टान्न आदि नैवेद्यों घृत मधु, पकवान तथा पिष्टक (पंजीरी) आदि तथा सुमधुर सुगन्धित जल इत्यादि द्रव्यों को मानसिक रूप से भेंट करके उस देवता की पूजा अर्चना करे।

अरुणकमलपुष्पैः पद्ममाल्यैर्मनोभिः
यजति ह यदि चैवानन्दसन्दोहचित्तः।

बहुविधफलरस्यापूर्वनैवेद्यदिव्यैः
स भवति जनपूज्यो योगिराट् सर्वलोके ॥२८॥

जो साधक पूर्वोक्त प्रकार से मानसिक सोपचार पूजा करते हुए अरुण कमल के पुष्पों तथा पद्म निर्मित माल्य आदि मानसिक पूजा सामग्री से तथा विविध प्रकार के फल रसमय पदार्थों तथा अपूर्व दिव्य नैवेद्य आदि के द्वारा अतिशय आनन्द से आप्लावित चित्त होकर भजन करता है, वह योगिराट् समस्त लोक में सर्वजन पूज्य हो जाता है।

पशुपतिरिव सिद्धेर्नायकः शास्त्रवेत्ता
रचयति कवितालिं भारतीवोपवासः।
नहि पुनरपरं वा जन्म पञ्चत्वभीतिः
मदनसदृशमूर्त्तिस्तस्य वश्या रमा हि ॥२९॥

उपर्युक्त प्रकार से अन्तर्याग सम्पन्न करने वाला योगी शिव के समान समस्त सिद्धियों का अधिष्ठाता, समस्त शास्त्रों का रहस्यवेत्ता, हो जाता है। वह कविता तो इस प्रकार करता है मानों सरस्वती ही उसके अन्तर में विराज रही हो, उसका पुनः जन्म नहीं होता, मृत्यु का भय उसे नहीं रहता, उसका शरीर तो साक्षात्कामदेव के शरीर के सदृश हो जाता है और लक्ष्मी भी उसके अधीन हो जाती है।

अथोत्थाप्य धीरः परां कुण्डलीं तां
शिवाद् ब्रह्मरन्ध्रान्तकं सूक्ष्मरूपाम्।
अकारादि लान्तां विलोमं च जप्त्वा
मनुश्चाष्ट वर्गैर्जपेदष्टवारम् ॥३०॥

इस प्रकार अन्तर्याग सम्पन्न करके धीर साधक अत्यन्त सूक्ष्म पराशक्ति रूपा कुण्डलिनी को शिव अर्थात् भ्रू लिङ्ग से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त उठाकर पुनः अकार से आरम्भकर ल पर्यन्त विपरीतक्रम से जपकर अर्थात् जिस प्रकार मूलाधार पद्म के कर्णिका में स्थित पृथिवी बीज से प्रारम्भ करके विशुद्ध पद्म गत पटलस्थ अ बीज तक ध्यान और जप कुण्डलिनी के उत्थापन क्रम में किया था उसके ठीक विपरीत क्रमसे

अकार से लेकर लकार तक जप और ध्यान के द्वारा पराशक्ति कुण्डलिनी को पुनः यथास्थान स्थित करने के लिए आठों वर्गो से आठ बार मन्त्रों का जप करे।

अथवा ब्रह्मरन्ध्रान्तः रवलाकोणमंडिताम्।
ग्रथितां कुण्डलीं ध्यात्वा जपेद् योगविशारदः ॥३१॥

अथवा ब्रह्मरन्ध्र के अन्तर्गत र-व-ल कोण अर्थात् अग्नि चन्द्र और सूर्य के कोण अथवा अग्नि जल और पृथ्वी तत्त्वमय कोणोंसे मण्डित त्रिकोण में ग्रथित कुण्डलिनी का ध्यान करते हुए मन्त्र को जपे।

पूर्ववद् होममेवं च तर्पणं पूर्ववच्चरेत्।
प्रणमेत्परया भक्त्या प्रादक्षिण्यविभागया ॥३२॥

योगवित् साधक पूर्वप्रकार से अन्तर याग (होम) और उसी प्रकार से तर्पण करके पूर्ण भक्ति के साथ प्रदक्षिणा करते हुए देवता को प्रणाम करे।

ततो नृत्यगीतैः पुनस्तोषयित्वा, परां देवतां दिव्यभावेन धीरः।
समानीय तां वेदिका-पूर्वपार्श्वे, परे रत्नपर्यङ्कके ब्रह्म रूपाम् ॥३३॥
शयनं कारयेत्तत्र पर्यङ्के परदेवताम्।
चामरैः पवनं कुर्याद् दद्यात् ताम्बूलमुत्तमम् ॥३४॥

तदन्तर धीर साधक को चाहिए कि वह अन्तर्याग करते हुए उस परा देवता का नृत्यगीत आदि के द्वारा पुनः दिव्य भाव से प्रसादन करके वेदिका के पूर्व भाग में लाकर परम महनीय रत्नस्वरूप रत्न पर्यङ्क पर उस परा देवता को शयन कराये तथा चामर से हवा करे तथा शयन के पूर्व उत्तम ताम्बूल अर्पित करे।

देवकन्यागणैः सार्धं नृत्यगीतादिभिः पराम्।
तोषयेद् भावपुष्पेण पूजयेद् योगिनायकः ॥३५॥

इस प्रकार योगिराज साधक को चाहिए कि देवकन्याओं के साथ नृत्यगीत आदि के द्वारा उस परादेवता की आराधना करते हुए भाव

रूपी पुष्पों के द्वारा उसकी पूजा करके उसे सन्तुष्ट करे।

सुविमलजलपूर्णैः[१] स्वर्णभृङ्गारिकाभिः
विलुलित-चमराद्यैः स्वर्णदीपुष्कराद्यैः ।
सुरवरयुवतीभिः सेव्यमानां नरस्तां
यजति यदि च भक्त्या मानसैः देवतुल्यः ॥३६॥
स भवति सुरपूज्यः सर्वलोकेषु धन्यः
शिव इव वसते (?) मानसैरर्चयेद् यः ।
मदनसदृशमूर्तिः सर्वशास्त्रस्य वेत्ता
किमधिकमपि चान्ते ब्रह्मनिर्वाणमेति ॥३७॥

इस भांति पूर्वोक्त प्रकार से अन्तर्याग करते हुए मानस पूजा के क्रम में जो साधक योगी अतिशय निर्मल जल से पूर्ण स्वर्ण निर्मित भृङ्गार जल के बड़े पात्र विशेष से अर्पण के द्वारा, हिलायी जाती हुई चमर आदि के द्वारा, स्वर्गंगा में उत्पन्न पुष्कर आदि पुष्पों के द्वारा तथा देवाङ्गनाओं द्वारा विविध प्रकार से सम्पाद्यमान सेवा के द्वारा उस परादेवता का मानस याग करता है, वह साधक देवतुल्य होकर समस्त लोकों में तथा, देवताओं में भी पूज्य और धन्य हो जाता है। पूर्वोक्त प्रकार से मानसी पूजा करके साधक शिव के समान समस्त सिद्धियों का स्वामी एवं समस्त शास्त्रों के रहस्य को समझने वाला हो जाता है। अधिक क्या कहा जाए अन्त में वह **ब्रह्म निर्वाण** अर्थात् मोक्ष को भी प्राप्त कर लेता है।

इति श्री वीरेश्वर ब्रह्मचार्यग्रणी विरचिते योग रत्नाकरे पञ्चमः तरङ्गः।

ब्रह्मचारीवर्ग में अग्रणी श्री वीरेश्वर विरचित योग रत्नाकर ग्रन्थ का पंचम तरङ्गपूर्ण हुआ एवं उसपर 'प्रणव' इस द्वितीय नाम से विश्रुत महामहोपाध्याय स्वामी अनन्त भारती द्वारा विरचित योगरत्नाकर-दीपिका पूर्ण हुई।

षष्ठ तरङ्ग

आदौ मायात्मकाम्भो जगदखिलमिदं नित्यभासी सुतेज—
स्तस्यान्तर्लिङ्गरूपी सकलशिववरो ज्योतिरूपो हि सूक्ष्मः ।
शुद्धःज्ञान-प्रकाशः परमरसचयः शीतलाभः पुराणो—
नित्यानन्दाभिधानस्त्रिभुवनरहितो नित्यचैतन्यरूपः ॥१॥

प्रारम्भ में यह समस्त जगत् मायामय जल के रूप में निरन्तर भासित होता रहा है। उस मायामय शुभ्र तेज के सदृश प्रतीत होने वाले जल के अन्दर अत्यन्त सूक्ष्म ज्योतिर्लिङ्ग के रूप में शिव के समस्त स्वरूपों में श्रेष्ठ, शुद्ध ज्ञान रूप प्रकाशवाला, परमरस की समष्टि रूप शीतल कान्ति वाला, नित्य आनन्द के रूप में सुविदित त्रिभुवनातीत शिव नित्य चैतन्य रूप में विद्यमान था।

तस्माच्छक्तिरपूर्वनिर्मलमहो योनिस्वरूपो भवन्
नादोऽभूदमलस्तो हिमकरद्योतः सदानन्दकः ।
बिन्दुश्चैव ततोऽभवत् क्रमवशाद् बीजं हि शक्तिः स्वयं
नादोऽसावुभयात्मकः खलु महान् बिन्दुश्च लिङ्गात्मकः ॥२॥

उपर्युक्त ज्योतिर्लिङ्ग से अद्भुत रूप से निर्मल योनि स्वरूपा शक्ति का आविर्भाव हुआ। उस शक्ति से नित्यानन्द स्वरूप चन्द्रमा के सदृश निर्मल द्युति वाला नाद प्रकट हुआ। पुनः नाद से बिन्दु की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार स्वयं शक्ति ही क्रमशः सभी तत्त्वों की बीज (मूल) है। नाद के पुनः दो प्रकार है : महाबिन्दुरूप और महालिङ्ग-रूप।

रौद्री बिन्दु समुद्भवा हि तमसो ज्येष्ठा तु नादे ततो
वामा बीजगता हि तस्य रजसः सत्त्वस्य चेच्छा क्रिया।
शक्ति र्ज्ञानसपूर्विका क्रमवशात् ताभ्योऽपि रुद्रादयः
तस्माद् बिन्दुमयात्सदा शिववरो जातास्तथेशादयः[1] ॥३॥

---

१. तु चेशादयः क

बिन्दु के तमोगुण स्वरूप से रौद्री शक्ति का प्रथम आविर्भाव होता है, यह ज्येष्ठा शक्ति नाद के रूप में पुनः व्यक्त होती है। बिन्दु के रजस् स्वरूप से वामा शक्ति प्रकट होती है और उसकी अभिव्यक्ति पुनः बीज रूप में होती है। उस बिन्दु के सत्त्व स्वरूप से इच्छा शक्ति ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के रूप में क्रमशः अभिव्यक्ति होती है। तथा इन से पुनः रुद्र आदि प्रकट होते हैं। इस प्रकार विन्दु से ही सदाशिव तथा ईश आदि की उत्पत्ति होती है।

परात् ब्रह्मणश्चाथ बिन्दुस्वरूपाद् दिक्कालभूतास्तथा चामरेन्द्राः[१]।
ग्रहास्तथा रात्रि दिनानि लोकास्तथाऽभवन् शास्त्रचयाः धराद्याः ॥४॥

वह बिन्दु वस्तुतः परब्रह्म है। इस प्रकार उस बिन्दु रूप परब्रह्म से दिशा काल भूत अर्थात् प्राणीवग अमर (देवगण) सूर्य-चन्द्र सभी ग्रह दिन और रात्रि सभी लोक लोकान्तर सभी शास्त्र तथा पृथिवी आदि सभी उससे ही उत्पन्न हुए हैं।

पराद्धि बिन्दोः परिभिद्यमानाद्
रवीन्दुवैश्वानररूपिणस्तु।
वरोऽभवन्नित्यमहत्सुरूपो
स चेतनोऽयं[२] भुजगीप्रणम्यः ॥५॥

क्रमशः उत्तरोत्तर अभिव्यक्त होते हुए बिन्दु रूपी परब्रह्म से रवि इन्दु और अग्नि की उत्पत्ति के अनन्तर महत्स्वरूप वाला वर अर्थात् शब्द ब्रह्म रूपी नाद की उत्पत्ति होती है। इस नाद में ही चेतना की अभिव्यक्ति होती है, अतएव वह कुण्डलिनी रूपा प्राणशक्ति द्वारा भी प्रणम्य है। शब्द ब्रह्म रूपी परावाक् की अभिव्यक्ति रूप पश्यन्ती नामक वाक्, जिसका स्थान अनाहत पद्म है, में कुण्डलिनी का उत्थित होकर पहुंचना ही मानो कुण्डलिनी द्वारा नाद ब्रह्म को प्रणाम करना है।

शब्दब्रह्मवरो हि पूर्णविभवो नित्योऽमरैर्गीयते।
कैश्चिज्ज्योतिवशादि तत्त्वमपरैः कैश्चित्तु सा चिन्मयी।

---

१. अमराश्च मन्द्राः २. ब्राह्मण एव बिन्दो क.

अस्माकं तु मतावलम्बनपरा धीरा[1] परे[1] योगिनो
गृह्णन्ति श्रुतयः प्रकृत्यनुगताः चैतन्यशब्दात्मकम् ॥६॥

पूर्व पद्य में 'वर' के नाम से अभिहित परब्रह्म का देवगण नित्य पूर्ण विभव **शब्द ब्रह्मवर** नाम से गान करते हैं। कुछ परम्पराओं में उसे ज्योति स्वरूप **आदितत्त्व** माना जाता है। अन्य कुछ आचार्यों के अनुसार उसे **चिन्मय** नाम से स्मरण किया जाता है। जबकि प्रस्तुत योगतन्त्र साधकों की परम्परा में दीक्षित सिद्ध योगी और श्रुतियां उसे प्रकृति से अनुगत **चैतन्य** शब्द के नाम से पुकारती हैं।

संक्षेपात्कथितं चैतद् विश्वोत्पत्तिनिरूपणम्।
अथान्यक्रमतश्चाहं वक्ष्यामि शास्त्रसम्मतम् ॥७॥

इस पूर्वोक्त प्रकार से विश्व की उत्पत्ति विषयक सिद्धान्तों का निरूपण संक्षेप से किया गया है। अग्रिम तरङ्ग में पुनः शास्त्र प्रतिपादित क्रम के अनुसार अन्य मतानुसार इसी विषय को उपस्थित किया जा रहा है।

इति श्रीमद् वीरेश्वर ब्रह्मचार्यग्रणी विरचिते योगरत्नाकरे षष्ठः तरङ्गः।

ब्रह्मचारियों में अग्रणी श्रीयुत वीरेश्वर विरचित योगरत्नाकर ग्रन्थ
में षष्ठ तरङ्ग पूर्ण हुआ, और उस पर दिल्ली वास्तव्य
'प्रणव' इस द्वितीय नाम से विश्रुत महामहोपाध्याय
स्वामी अनन्त भारती द्वारा विरचित योग-
रत्नाकर दीपिका पूर्ण हुई।

---

१. स चेतना तं क.

सप्तम तरङ्ग

शरीरं स्वकीयाब्धि हस्तप्रमीतं
वितस्ति प्रमीतः शरीरेऽस्ति जीवः।
समास्तेऽधिको वायुरेवात्र नित्यं
त्वपानो गुदोद्ध्र्वे[1]ऽम्बुजान्ते च प्राणः[2] ॥१॥

हमारा यह शरीर अपने हाथ से चार हाथ (वस्तुतः साढे तीन हाथ) परिमाण वाला है। इस शरीर में जीव का परिमाण एक वितस्ति पर्यन्त है। किन्तु इस शरीर में रहने वाला वायु शरीर की अपेक्षा अधिक परिमाण वाला है, जो इसमें नित्य और निरन्तर विद्यमान रहता है। शरीर में रहने वाले वायु स्थान भेद से प्राण आदि पांच नामों से जाने जाते हैं। इन पांच वायुओं में **अपान** वायु गुदा से ऊपर और **प्राण** हृदय पद्म पर्यन्त प्रकट रहता है।

समानः समास्ते सदा नाभिमूले[3]
उदानश्च कण्ठे वसेद् व्यापकोऽसौ[4]।
ततो व्यानवायु[5]र्वसेत् सर्वदेहे
ततः पञ्चवाय्वादिकाः सन्ति[6] नागाः ॥२॥

समान वायु नाभि के मूल में निवास करता है, **उदान** कण्ठ प्रदेश में व्यापक होकर रहता है, पांचवां वायु **व्यान** है, जो सम्पूर्ण शरीर में व्यापक होकर रहता है। इन **प्राण अपान समान उदान** और **व्यान** वायुओं के अतिरिक्त **नाग** आदि (**नाग कूर्म कृकर देवदत्त** और धनञ्जय) पांच अन्य वायु भी शरीर में निवास करते हैं।

वसन्तीह नागादयः पञ्चदेवाः
समुद्गीरणे नागनामा च वायुः।
तथोन्मीलने कूर्मसंज्ञः कृकश्च
क्षुते जृम्भणे देवदत्तः स्मृतोऽपि ॥३॥

---

१. गुदार्धे क.
२. प्रकाशः क.
३. सदा भान्त्युदानः क.
४. स कश्चैव सेद् व्यापके सौ क.
५. ध्यान वायुः क.
६. 'सन्ति' इति त्रुटितं क. ग्रन्थे

इन पांचों वायुओं के साथ नाग आदि पांच देवता निवास करते हैं। कण्ठ देश में रहकर स्वर यन्त्रों को संचालित कर ध्वनियों को उत्पन्न करना **नाग** वायु का कार्य है। नेत्रों पर निवास करके पलकों के उठाने गिराने का कार्य **कूर्म** वायु करता है, **कृक**, जिसे सामान्यतया **कृकर** कहा जाता है, उदर में रहकर क्षुधा को जन्म देता है, तथा जम्भाइयों के प्रति **देवदत्त** नामक वायु कारण है।

वपुर्व्यापकोऽसौ धनं प्राग्जयश्च
समास्ते हि नाड़ी पथेष्वात्म देहे।
भ्रमन्तीह जीवस्वरूपाः सदैते
नराणां तथा जन्तवश्चैव नित्यम् ॥४॥

धनञ्जय सम्पूर्ण शरीर में नाड़ी पथ में व्यापक होकर उनका संचालन करता है। इन सभी दसों प्राण अपान समान उदान व्यान, नाग कूर्म कृकर देवदत्त और धनञ्जय के रूप में समस्त शरीर में जीव उसी प्रकार भ्रमण करता है, जिस प्रकार विविध जन्तु पृथिवी पर भ्रमण करते हैं। इन दस वायुओं की स्थिति मनुष्यों और अन्य प्राणियों के शरीर में समान रूप से रहती है।

बध्वैकासनमेव मारुतमथो वै कुम्भकं योगवित्
कृत्वाङ्गुष्ठयुगं बुधो दृढतरं श्रोत्रे विनिक्षिप्य च[1]।
नेत्रे तर्जनिके हि मध्ययुगलां घ्राणेऽङ्गुलीचक्रके
ध्यायेन्निर्मलचेतसाऽनिलसमं जीवं च हंसेन हि ॥५॥

प्राणों की शरीरगत स्थिति को जानकर साधना में प्रवृत्त साधक को चाहिए कि वह किसी एक आसन में स्थिर होकर प्राणायाम की विधि के अनुसार एकाग्र चित्त होकर पूरक करके अर्थात् वायु को अधिक से अधिक अन्दर लेकर कुम्भक करते हुए दोनों अंगूठों को दोनों कानों पर, दोनों तर्जनी अंगुलियों को दोनों नेत्रों पर, दोनों मध्यमा अंगुलियों को नासिका पर तथा शेष अंगुलियों को मुख पर रखकर इन्हें बन्द करके निर्मल शान्त चित्त होकर प्राण वायु के साथ जीव और

---

१. विनिक्षिप्यते क.

चित्त को भी एकाग्र करके हंस मन्त्र का जप करते हुए क्रमशः पूर्व वर्णित पद्मों पर अथवा हृत्पद्म पर ध्यान करे।

नादश्चैव प्रजायते प्रथमतो मत्तालिमालाध्वनि-
श्चाभ्यासाद् वरवंशिकाध्वनिवरः कांस्यादि घंटाध्वनिः।
पश्चान्मेघरवध्वनिः प्रभवति, प्राभ्यासतो वै नरः
संसारे न तु लिप्यतेऽमरवरस्तुल्यो न पापैः पुनः ॥६॥

उपर्युक्त प्रकार से अभ्यास करने पर अनाहत नाद की अनुभूति साधक को होती है। इस क्रम में सर्व प्रथम मदमत्त भ्रमरों के गुञ्जन का नाद साधक को सुनाई पड़ता है। इस पर निरन्तर अभ्यास करने पर सुमधुर वंशी की ध्वनि सुनाई देती है। इसके अनन्तर कांस्य घंटा की ध्वनि का अनुभव होता है, और अन्त में साधक मेघ गर्जन के सदृश नाद का अनुभव करता है। इस प्रकार कुम्भक के साथ अनाहत नाद के साथ प्राण एवं चित्त सहित जीव को एकाग्र करने का निरन्तर अभ्यास करने से साधक मनुष्य संसार में लिप्त नहीं होता, न पापों से ही सम्पृक्त होता है। इस प्रकार वह गुण कर्म से देवेन्द्र के सदृश हो जाता है।

सदाभ्यासतो वै नरो मृत्युभीते-
रतीतः स मोहान्धकारे हि हंसः।
न रोगः शरीरे सदा योगिनोऽपि
तथा प्रेतराजस्य भीतिर्न तस्य ॥७॥

इस नाद साधना के फल स्वरूप मनुष्य मृत्यु के भय से मुक्त हो जाता है। वह मोह के अन्धकार में कभी नहीं पड़ता। नीर क्षीर विवेकी हंस के समान सर्वदा सद् असद् बिवेक से युक्त बना रहता है। ऐसे योगी के शरीर में कोई रोग उत्पन्न नहीं होते तथा उसे मृत्यु का भय भी नहीं रह जाता अर्थात् वह मृत्यु भय से सदा के लिए मुक्त हो जाता है।

ततः पूर्णिमादिक्रमे दक्षनासा-
पुटे त्रैदिनं व्याप्य वायोर्गतिः स्यात्।

ततस्त्रीणि वामे दिनान्येव नित्यं,
भवेद् यावदन्या क्रमात्पौर्णमासी ॥८॥

इस साधना के फल स्वरूप पूर्णिमा से प्रारम्भ करके निरन्तर तीन दिनों तक दाहिने नासा पुट से वायु का आवागमन होता रहता है अर्थात् केवल दक्षिण नाड़ी (पिङ्गला नाड़ी) प्रवाहित रहती है, उसके अनन्तर पुनः अग्रिम तीन दिनों तक वामनासापुट (इड़ा नाड़ी) से वायु का गमन आगमन होता है, अर्थात् केवल बायीं इड़ा नाड़ी ही प्रवाहित रहती है। तीन-तीन दिनों का यह क्रम अग्रिम पूर्णिमा पर्यन्त रहता है।

यदा व्यत्ययेनानिलस्यापि रोगो
गतिर्नासिकायां तिथेः स्याच्च देहे।
भवेच्चेद् यदैकस्य पक्षस्य वायो-
स्तदा स्युश्च[1] देहे तु रोगाणि भूरि[2] ॥९॥

जब अपेक्षित तिथियों में नासिका में वायु की गति में व्यत्यय अर्थात् अपेक्षित नाड़ी में वायु प्रवाह से विपरीत नाड़ी में वायु का प्रवाह होता है, तब शरीर में अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। यदि कदाचद् निरन्तर एक पक्ष पर्यन्त एक ही नाड़ी में (वाम या दक्षिण नाड़ी में) वायु का प्रवाह बना रहता है, तब शरीर में अनेकानेक रोग उत्पन्न होते हैं।

पक्षत्रयाणां विपरीतकेण मृत्युर्भवेद् वै गदितं हि सत्यम्।
ब्रह्माऽथ विष्णुर्न च भूतनाथो रक्षां समर्थो न हि कर्त्तुमीशः ॥१०॥

नासिका से विपरीत क्रम से वायु का प्रवाह यदि तीन पक्ष तक चलता रहता है, तो निश्चय ही मनुष्य की मृत्यु हो जाती है, इसमें किञ्चिद् भी सन्देह नहीं है। इस स्थिति में ब्रह्मा विष्णु अथवा भतनाथ शिव भी उसकी रक्षा करने में समर्थ नहीं होते हैं।

---

१. स्याच्च क.   २. भूतिः क.

उपायमेवाथ वक्ष्ये नराणां जीवेच्चिरं कालमेवास्ति गोप्यम् ।
निपीड्यवायुं क्रमशः प्रपूर्य्य[1] सौषुम्णमार्गे परिकुम्भयेत्ताम् ।।११।।

उपर्युक्त मृत्यु विषयक आपत्ति से बचने के लिए यहां एक उपाय बताया जा रहा है, इस उपाय को अपना कर योगी चिरकाल तक जीवित रहता है। यह उपाय अत्यन्त गोपनीय है। उपाय यह है कि क्रमशः दाहिने अथवा बायें नासिका से पूरक करके उसे सुषुम्ना नाड़ी में पहुंचाकर कुम्भक करे।

संरेचयेत्तं क्रमशः प्रपूर्यानिलं ततो ज्ञः परिकुम्भयित्वा ।
संरेचयेदेव पुनः पुनः स्यात्क्रमेण वायोर्गतिरेव यावत् ।।१२।।

इस प्रकार साधक बारी-बारी से चन्द्र या सूर्य नाड़ी से पूरक करके कुम्भक करे और कुम्भक के अनन्तर दूसरी नाड़ी से रेचक करे और पुनः कुम्भक करके फिर रेचक करे। इस प्रकार क्रमशः दोनों नासिका छिद्रों से बारी-बारी से रेचक करके उस से ही पूरक करके कुम्भक करे। यह अभ्यास साधक को तब तक करना चाहिए जब तक वायु की गति शेष रहे अर्थात् जब तक **केवल कुम्भक** की सिद्धि न हो तब तक साधक प्रतिदिन इस प्राणायाम साधना को करे।

(यहां प्राणायाम साधना विधि सुस्पष्ट वर्णित नहीं है। केवल-कुम्भक की सिद्धि के लिए विधि के अनुसार आहार विहार करते हुए प्रातः मध्याह्न सायं एवं मध्य रात्रि में प्राणायाम का अभ्यास किया जाता है। इस अभ्यास में धीरे-धीरे बढ़ा कर अस्सी प्राणायाम प्रति-दिन करने होते हैं। प्राणायाम क्रम में जिस नासिका मार्ग से रेचक किया जाए उससे ही पूरक करके कुम्भक किया जाता है और जिस नासिका से पूरक किया है, कुम्भक के बाद उससे भिन्न दूसरी नासिका से रेचक किया जाता है। विशेष विवरण के लिए हमारे **राजयोग साधना और सिद्धान्त** अथवा **दत्तात्रेय योग शास्त्र** में देखें और उसके अनुसार अभ्यास करें। गुरु के सान्निध्य में रहकर अभ्यास करना ही अधिक उचित होता है, और शीघ्र बिना विघ्नों के सफलता प्राप्त होती है।)

---

१. प्रपूज्य क.

न मृत्युर्भवेद्धि क्रमादभ्यसेद्यः
सुषुम्णोदरे ध्यानयोगाच्च वायुम्[1]।
न रोगः शरीरे भवेत्तस्य कश्चित्
त्रिलोके प्रशस्तो[2] महादेवतुल्यः ॥१३॥

इस **केवल कुम्भक** के क्रमशः अभ्यास करने से साधक मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है, अर्थात् उसकी मृत्यु उसकी अपनी इच्छा के बिना कभी नहीं होती। यदि साधक सुषुम्णा में वायु का प्रवेश करके ध्यान करने लग जाता है तो साधक के शरीर में कभी कोई रोग उत्पन्न ही नहीं होता। साथ ही वह महादेव के सदृश होकर तीनों लोकों में पूज्य हो जाता है।

खेचरी मुद्रा

अथान्यत्तालु मूले च धीरो जिह्वां नियोजयेत्।
पीत्वाऽमृतरसं योगी चिरजीवी भवेद् ध्रुवम् ॥१४॥

रोग और मृत्यु के भय से मुक्त होने का एक अन्य उपाय भी है कि साधक विधिपूर्वक साधना करते हुए क्रमशः अभ्यास करके अपनी जिह्वा को तालुमूल में प्रविष्ट कराकर वहीं स्थिर करे। इस प्रकार सहस्रार पद्म से स्रवित होने वाले अमृत रस का निरन्तर (प्रतिदिन) पान करके योगी निश्चित ही चिरजीवी हो जाता है।

उपसंहार

योऽभ्यासं कुरुते बुधः प्रतिदिनं योगस्य चान्तर्मना,
ज्ञात्वा सत्कृतपुस्तके गुरुमुखाद् योगस्य रत्नाकरे।
स स्यादीश्वर एव सिद्ध[3] भगवान् रक्षाविनाशक्षमो-
ऽन्तेऽष्टौ विलसन्ति सिद्धिनिवहास्तस्यापि शम्भोः सदा ॥१५॥

जो साधक यम नियमों की साधना के द्वारा मन को संयत करके सिद्धयोगी वीरेश्वर ब्रह्मचारी द्वारा रचित ग्रन्थ योगरत्नाकर म

१. वायुः क. २. प्रदर्श्य क.

३. सिद्धि इतित्रुटितम् क पुस्तके

वर्णित साधना विधि को गुरुमुख से प्राप्त करके प्रतिदिन योगाभ्यास करता है, वह सिद्ध होकर साक्षात् ईश्वर ही हो जाता है, लोक की रक्षा अथवा विनाश का सामर्थ्य भी उसमें सहज ही आ जाता है। साक्षात् शिवभाव को प्राप्त हो जाने से **अणिमा महिमा लघिमा गरिमा प्राप्ति प्रकाम्य ईशित्व** और **वशित्व** ये आठों सिद्धियां उसे प्राप्त होकर उसमें सुशोभित होती है।

योगरत्नाकरं ग्रन्थं सारात्सारं निरूपितम्।
ज्ञात्वा योगी भवेदेव शिव एव न संशयः॥१६॥

सार का भी सार लेकर अर्थात् अत्यन्त संक्षेप से इस योगरत्नाकर ग्रन्थ का निरूपण किया गया है। इसे जानकर अर्थात् अभ्यास करके योगी साक्षात् शिव ही हो जाता है, इसमें कोई संशय नहीं है।

अभ्यासाज्जायते वक्त्रे वाणी वाचस्पतेरिव।
पाण्डित्यं सर्वशास्त्रेषु चान्ते निर्वाणमाप्नुयात्॥१७॥

इस ग्रन्थ में वर्णित योग विद्या के अभ्यास के फलस्वरूप साधक योगी की वाणी वाचस्पति के समान हो जाती है। वह सभी शास्त्रों में पाण्डित्य प्राप्त कर लेता है।

न दद्यादिमं वैरिपक्षाश्रितायाॅ-
तिक्रोधिने धूर्त्तकायातिगोप्यम्।
अयोग्याय दत्त्वा भवेत् सिद्धिहानिः
तथा रोगयुक्तोऽल्पजीवी स मूर्खः॥१८॥

इस योग विद्या का उपदेश शत्रु पक्ष के व्यक्ति को न करे, साथ ही अत्यन्त क्रोधी एवं धूर्त्त को भी इसका उपदेश नहीं करना चाहिए। अयोग्य अर्थात् अनधिकारी व्यक्ति को इस विद्या का उपदेश करने से प्राप्त सिद्धियों में हानि हो जाती है तथा वह मूर्ख साधक रोगी अल्पजीवी हो जाता है। अर्थात् अनधिकारी साधक साधना में प्रवृत्त होकर रोगी होकर मृत्यु को भी प्राप्त कर लेता है।

---

१. ऽपि क

योग्याय दद्यादपि शिष्यकाय प्रज्ञायुताय प्रयताय धीरः।
भक्ताय चैवं महते हि दत्वा स स्याद् विमुक्तः खलु पातकेभ्यः ॥१९॥

यदि योगी गुरु यह योगविद्या प्रज्ञायुक्त निरन्तर प्रयत्न करने वाले योग्य महान् भक्त शिष्य को प्रदान करता है, तो वह धीर साधक साधना के माध्यम से समस्त पापों से मुक्त हो जाता है।

यश्चैवं प्रतिवासरं पठति वा ध्यानैः परं चाभ्यसेत्।
स स्याद् योगविशारदः कविवरः शास्त्रेषु वागाश्दरः
वश्या तस्य रमा, परे परपुरे गन्तुं क्षमो योगवित्
अन्ते यात्यमलं पदं[1] यतिवरो निर्वाणमेवाव्ययम् ॥२०॥

जो व्यक्ति प्रतिदिन इस का अभ्यास करता है, अथवा ध्यान का अभ्यास करता है, वह साधक योग विद्या में विशारद श्रेष्ठ कवित्व-शक्तियुक्त शास्त्रों में बृहस्पति के समान प्रवीण हो जाता है। लक्ष्मी उसके वश में रहती है। वह योगी शत्रु नगर में अथवा स्वर्ग लोक में निर्बाध प्रवेश करने में समर्थ होता है और अन्त में समस्त पापरूपी मलों से मुक्त होकर अव्यय निर्वाण पद को प्राप्त कर लेता है।

अभ्यासाद् भवतीह सिद्धिरतुला ध्यानाद्धि योगीश्वरः,
संपाठात्कवितालिरेव विमला संपाठ्यते येन वै।
तस्याष्टौ खलु सिद्धयः[2] करतले, नित्यं भवेन्मुक्तिमान्,
पापान्मोक्ष-विमानमेति नितरां निर्वाणमेवाच्युतम् ॥२१॥

इस योग विद्या के अभ्यास से अपूर्व सिद्धियां प्राप्त होती हैं, ध्यान का अभ्यास करने से साधक योगीश्वर हो जाता है और उसके पास अनन्त अतुलनीय सिद्धियां आ जाती हैं। इस ग्रन्थ के अभ्यास से योगी निर्दोष काव्य की रचना में समर्थ हो जाता है। और जो योगी इस योग विद्या को अधिकारी साधक को प्रदान करता है, उस योगी के हाथ में अणिमा आदि आठों सिद्धियां निरन्तर विद्य-मान रहती हैं, वह सभी पापों से मुक्त होकर अक्षय निर्वाण को

---

१. परं क

२. हि परिद्धयः

प्राप्त कर लेता है ।

श्रीमद् हरिहरानन्दनाथशिष्येण धीमता ।
श्रीमद् वीरेश्वरानन्द कृतिना ग्रन्थ ईरितः ॥२२॥

श्रीयुत स्वामी हरिहरानन्द नाथ के बुद्धिमान शिष्य श्री वीरेश्वरानन्द कृती ने इस ग्रन्थ की रचना की ।

इति श्रीमद् वीरेश्वरानन्द-ब्रह्मचार्यग्रणी विरचिते योगरत्नाकरे सप्तमस्तरङ्गः । समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।

श्री वीरेश्वरानन्द ब्रह्मचारी विरचित योगरत्नाकर ग्रन्थ का सप्तम तरङ्ग और यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ और उस पर 'प्रणव' इस द्वितीय नाम से विश्रुत महामहोपाध्याय स्वामी अनन्त भारती विरचित योगरत्नाकर दीपिका समाप्त हुई ।

केशवानन्द शिष्येण योगिनाऽनन्त स्वामिना ।
योगरत्नाकरे दीपः कल्पितः स्यात् सताम्मुदे ।

परिशिष्ट

योगरत्नाकरस्य श्लोकानुक्रमणी

अत्रानन्दपदं	३.४६
अत्रैव चित्तं	३.२६
अत्रैवाच्युत ०	३.४६
अथ छिन्नत्वष्टो	२.३२
अथवा ब्रह्म ०	५.३१
अथातः सुषुम्नोदरे	३.२
अथातो गुदान्म ०	२.८
अथादौ लक्षणं	१.६
अथान्तर्यजनं	५.१
अथान्यत्तालु ०	७.१४
अथासनं	२.१
अथोत्थाप्य	३.३०
अथोद्वर्त्तनं	५.१८
अधस्तथा वै	५.२१
अनाहतं	३.१७
अभीतिञ्च	३.२३
अभ्यासाज्जायते	७.१७
अभ्यासाद्भवतीति	७.२१
अम्बरं चामरं	५.१६
अम्भोज मण्डलं	३.३
अरुणकमल ०	५.२८
अस्मिन्पारमहंस ०	३.४२
अस्मिन् ब्रह्म ०	३.३५
आकाश तत्त्वैः	५.२०
आदौ भूमिविशोधनं	२.६
आदौ मायात्मका ०	६.१
आनन्दोज्ज्वल ०	१.२
आरम्भे च	१.१०
इडा वामे	२.१३
इत्थं यो याति	३.३१
इदं तत्त्वमयन्त	३.४७
इदं स्वाधिष्ठानं	३.६
इमां योनिमुद्रां	२.३१
उपायमेवाथ	७.११
एवं यः कुरुते	४.६
एवं येन च	२.३०
एवं व्युत्क्रम ०	१.१४
एषामन्यतमं	२.५
ओष्ठेऽलक्तक ०	५.२४
कुण्डे ह्यात्म ०	४.५
कृत्वैवं प्रतिवासरं	२.३३
क्षाराम्ललवण ०	१.८
गजेन्द्र पृष्ठ ०	२.१६
गदा हस्तमेवा ०	३.१३
गद्यैः पद्य ०	२.३४
गान्धारी तु गता	२.१२
जप्त्वा षोडश ०	१.१३
जानूर्वोरन्तराले	२.२
जीवेनैव	२.२८
ज्ञात्वा श्रीनाथ वक्त्रात्	३.५०
ततश्च मूल ०	२.१७
ततस्तस्य वामे	३.२४
ततस्तु त्रिकोण ०	२.२२
ततः कण्ठ कूपे	३.२०

ततः कर्णिकान्तः	२.१०, २.२१	न दद्यादियं	७.१८
ततः कर्णिकायां	३.१५	न मृत्युर्भवेत्	७.१३
ततः पूर्णिमादिक्रमे	७.८	न मृत्योर्भयं वा	३.१९
ततः प्रोञ्छयेत्	५.१९	नाडीनां	२.१६
ततः शुभ्रपत्रं	३.२७	नादश्चैव	७.६
ततो द्वीपमध्ये	५.७	निखिल निगम शास्त्रैः	३.४९
ततो नाभिमूले	३.७	निगर्भस्तन्मन्त्रः	१.१६
ततो नृत्यगीतैः	५.३३	नैवेद्यं विविधं	५.१३
ततो मालाचन्दनं	५.१७	न्यासस्तन्मयता	४.३
ततोऽर्धेन्दु ०	३.३२	पक्षत्रयाणां	७.१०
ततो हृतसरोजं	३.११	पञ्चवाय्वात्मकं	५.१२
तत्रास्ति विष्णु ०	३.४	पराद्धि विन्दोः	६.५
तत्सव्यदेशे	३.५	पशुपतिरिब	५.२९
तदन्तर्निवात ०	३.१६	पश्चाद् वा	५.९
तदन्तः	२.१५	पादयोः नूपुरौ	५.२५
तदन्तः समास्ते	३.३९, ३.४०	पाद्यं चैव	५.११
तदन्तः समुद्भासि ०	३.८	पीत्वा तत्र	२.२९
तदूर्ध्वे परा	२.२४	पृथिव्यां यानि	५.१४
तदूर्ध्वे हि	३.३३, ३.४१	प्रपूर्णेन्दु	३.३४
तन्मध्ये परिभाति	३.४५	प्रसन्नाः मृगेन्द्राः	५.६
तन्मध्ये विसतन्तु	३.४४	प्रागुक्तं कमलं	३.१
तस्माच्छक्ति ०	६.२	प्राणायाममियं	१.१५
तस्मादेव	१.१२	प्राणायामयतो	१.१७
त्रिकोट्यः	२.११	प्रोत्थाप्यामल०	४.४
देवकन्यागणैः	५.३५	बालार्कारुण०	३.४३
देव्याः भालतले	५.२३	ब्रह्मचारी०	१.७
धरा पराहि	२.१८	भक्त्या वासन०	५.१०
ध्यानात्करे	३.१८	मुनीन्द्रैः सुधन्यैः	३.४८
ध्यानान्मुनीन्द्रो	३-२९	यदा व्यत्यये	७.९
ध्यायेत्स्वर्ण०	५.८	यद् ब्रह्मवेदा०	१.१
ध्यायेद्योमणि०	३.१०	यश्चैवं	७.२०
नत्वा श्रीगुरु०	२.७	या शक्तिः कुल०	२.२५

योगरत्नाकरं	१.६	शरीरं स्वकीयाब्धि०	७.१
योगीन्द्रश्च	२.२७	श्रीमद्वीरेश्वरानन्द०	१.५
योगीशः प्रभु०	१.१८	श्रीमद् हरिहरानन्द०	७.२२
योऽभ्यास०	७.१५	षडास्यैरुपेता०	३.२८
रौद्री बिन्दु	६.३	संक्षेपात्कथितं	६.७
लसद् भस्म०	३.९	संरेचयेत्तं क्रमशः	७.१२
लिङ्गं तत्कर्णिकान्त०	३.३०	सदापूर्वकोऽङ्के	३.२२
वक्त्रं तु	२.२७	सदाभ्यासतो०	७.७
वदाम्यहं	१.३	स भवति	५.३७
वध्वैकासनमेव	७.५	समानः समास्ते	७.२
वपुर्व्यापको०	७.४	समास्तेऽत्र षड्विन्दु	३.१२
वरैः कोकिलैः	५.५	समास्तेऽत्र देवी	३.१४
वसन्तीह नागादय०	७.३	समास्तेऽत्र नित्यं	३.२५
वसेत्पुनः	२.२०	समुत्थाप्य	५.२६
वस्त्रं तां परि०	५.२२	सहस्रारामृतेनैव	५.१५
वातपित्तकफैः	१.११	सारं संगृह्य तन्त्राणां	१.४
वायोरुपरि	२.४	सुधाप्लावितं	३.२१
विविध विमल०	५.२७	सुषुम्णास्य०	२.१४
विष्णुः श्रीपति	३.३६	सुवर्णैर्लसद्	५.३
विष्णुं श्री पुरुषोत्तम०	३.३७	सुविमलजलपूर्णै	५.३६
विसर्गादधस्थं	३.३८	सुवृक्षैः फलाढ्यैः	५.४
शनैः शनैः	१.९	स्फुरच्चन्द्र०	२.२३
शब्दब्रह्मपरो	६.६	हुङ्कारेण	४.२
शयनं कारयेत्	५.३४	हृत्पद्मोद्गत०	४.१
शरीरं परं भावयेत्	५.२		

तन्त्र साधना के स्तर के अनुसार चार भेद हैं : वामाचार, कौल-आचार, मिश्र-आचार और समय-आचार। इनमें अन्तिम अर्थात् समयाचार में साधना की बाहरी औपचारिकताएं समाप्त हो जाती हैं, आन्तर पूजा होती है। शरीर के अन्दर ही सभी तीर्थ होते हैं, सभी देवी देवताओं के स्थान होते हैं, जहां भक्तिमय मानस उपचारों से उनकी पूजा होती है। स्वामी **हरिहरानन्द** ब्रह्मचारी के शिष्य स्वामी **वीरेश्वरानन्द** ब्रह्मचारी कृत **योगरत्नाकर**, जिसका दूसरा नाम **ब्रह्मनिर्वाणतन्त्र** है, तन्त्रकी सर्वोच्च साधना समयाचार का विवरण देने वाला एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जो अबतक अप्रकाशित रहा है। स्वामी अनन्त भारती जी ने पाण्डुलिपि संग्रहालयों से उद्धार करके प्रामाणिक व्याख्या के साथ इसका सम्पादन किया है। ग्रन्थकार ने इसमें सामान्य तैयारी की ओर संकेत करके मूलाधार से सहस्रार पर्यन्त चक्रों का विस्तृत वर्णन करते हुए किस प्रकार उन्हें उदबुद्ध करके कुण्डलिनी को जागृत किया जा सकता है, इसका सुस्पष्ट विवरण दिया है। इसके आनन्तर साधना के पथ में रहस्यभूत अन्तरयोग (मानस-उपचार सहित आन्तर पूजा) किस प्रकार सम्पन्न किया जाये इसका विस्तार से वर्णन किया है।

योग संस्थान के कुछ प्रमुख प्रकाशन

१. राजयोग साधना और सिद्धान्त	डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी
२. दत्तात्रेय योगशास्त्र	डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी
३. योगबीज	डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी
४. शाण्डिल्य योग	डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी
५. अमनस्क योग	डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी
६. योग चूड़ामणि	डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी
७. कुण्डलिनी साधना	डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी
८. योग और स्वास्थ्य	डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी
९. योग और मानसिक स्वास्थ्य	डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी
10: Raja-yoga and It's Practice	Dr. B.M. Awasthi
11. Divine Path By Holy Sents	Dr. B.M. Awasthi
12. Dattatreya-yoga Shastra	Dr. B.M, Awasthi
13. Yoga Bija	Dr. B.M. Awasthi
14. Amanaska-yoga	Dr. B.M. Awasthi

१५. स्वामी केशवानन्द योगपत्रिका (मासिक)

स्वामी केशवानन्द योग संस्थान

बी-२/१३९-१४०, सेक्टर ६, रोहिणी, दिल्ली-११००८५

दूरभाष ७२७८३०४